जापान

भारती

शान्ति - मुक्ति अंक

संपादक

सौरभ सिंघल

संपादक मंडल

अखिल मित्तल

রঞ্জন গুপ্ত (रंजन गुप्त)

रंजन कुमार

सुशील कुमार जैन

पता

208, मैंशन न्यू ताकानावा

2-10-15 ताकानावा , मिनातो कू

तोक्यो 108

फोन/ई-मेल

सौरभ : 03-3462-0853

singals@ml.com

रंजन कुमार : 03-3473-6043

ranjan@twics.com

फैक्स

सुशील : 03-3832-1641

अंक ६ विक्रम संवत् २०५२ अगस्त१९९५

इस अंक में

हमारा पत्रा ...२

आपका पत्रा ...३

हे ईश्वर ...५

ये क्या जगह है ...७

युवा पीढ़ी का आश्चर्यजनक असमंजस ...८

नोबेल व सँस्कृति पुरस्कार ...९

व्दितीय विश्व युध्द और भारत की आज़ादी ...१६

स्वाधीनता के स्वर ...१७

स्वाधीनता का सिपाही ...१९

निवेदन ...२०

स्वदेशीगान ও আমি ... २०

स्वाधीनता ...२१

ারমাণবিক বোমা ও জাপান ...२२

নেতাজী ও জাপান ...२२

हमारा पन्ना

अगस्त का यह महीना सदियों से भारतीय संस्कृति में सावन-भादों, तीज त्योहारों के लिए और जापान में पितृों के स्मृति-पर्व के लिए जाना जाता है। किन्तु आधुनिक इतिहास की कुछ युगान्तकारी घटनाएं भी इसी के नाम लिखी हुई हैं। ९ अगस्त, १९४२ को अंग्रेजों भारत छोड़ो का शंखनाद हुआ, १४ अगस्त, १९४५ को भारत विधिवत दो टुकड़ों में बांटा गया और १५ अगस्त, १९४७ को आज का भारत २०० बरस की दासता से मुक्त हुआ। जापान में ६ अगस्त, १९४५ को हिरोशिमा पर विश्व का प्रथम परमाणु बम गिराया गया और ९ अगस्त, १९४५ को नागासाकी पर उसकी पुनरावृत्ति हुई। १५ अगस्त, १९४५ को दूसरे महायुद्ध की दावाग्नि शांत हुई।

दूसरे महायुद्ध की समाप्ति और जापान पर परमाणु बम वर्षा को आधी सदी बीत गई पर न युद्धों से मुक्ति मिली न परमाणु शस्त्रों के आतंक से। विश्व में शांति का सपना आज भी गोष्ठियों और दस्तावेजों की काल कोठरी में बंद है। भूख, गरीबी और असमानता का शिकंजा कुछ और फैला है। जोड़ने के नाम पर तोड़ने का अथक परिश्रम निरन्तर जारी है। कभी-कभी तो जापान के उस आत्मघाती कामिकाजे पायलट की बात ही सही लगने लगती है, जिसने आत्मघाती उड़ान से पहले लिखा था कि शांति तो शायद तभी आएगी जब धरा से मानव नाम का प्राणी मिट जाएगा। पर शायद निराश होकर बैठ जाना मानव धर्म नहीं है।

शेष विश्व की तरह भारत भी अपनी स्वाधीनता के ४९ वें वर्ष में इन्हीं उलझनों से जूझ रहा है।

इन तमाम सन्दर्भों में जापान भारती के इस अंक का नामकरण हमने किया है- शांति-मुक्ति अंक। इसमें परमाणु बम त्रासदी के कुछ पहलुओं पर चर्चा के साथ-साथ जापान में आज की युवा पीढ़ी की मनःस्थिति का आकलन किया गया है। भारत के स्वाधीनता आंदोलन के दौरान और उसके आसपास रची गई कुछ कविताओं और गीतों पर आधारित रचना शायद आपको रोचक लगेगी। इस बार बांग्ला भाषा की सामग्री के संकलन और प्रकाशन में श्री विवेक दासगुप्त का सहयोग अनमोल रहा। रक्षाबंधन और श्रीकृष्णजन्माष्टमी मंगलमय हो।

यह अंक समर्पित है उन तमाम दिवंगत आत्माओं को जो भारत, जापान या दुनिया के किसी भी हिस्से में, कहीं भी, कभी भी इंसान पर हुकुमत करने और इंसान को गुलाम बनाने की इंसानी हवस की बलि चढ़ी हैं।

-सौरभ सिंघल

आपका पन्ना

प्रिय सौरभ जी,

मैं अभी कुछ दिनों पहले ही जापान आई हूँ ,भारत से । सौभाग्यवश आते ही मुझे *जापान-भारती* का अंक ४ मिला, जिससे भावनात्मक रुप से मुझे अतीव बल व प्रेरणा मिली । अपनी मिट्टी से बहुत दूर होते हुए भी, अपनी मिट्टी की सुगन्ध को पास ही पाया । अत्यन्त आभारी हूँ - जापान भारती व सम्पादक मण्डली की । कृपया मुझे इसके प्रत्येक अंक नियमित रुपेण भेजने का कष्ट करें ।

मैं हिन्दी साहित्य में रुचि रखती हूँ एवं बंगला साहित्य भी मुझे इतना ही प्रिय है । क्या मैं अपनी रचना इस पत्रिका के लिए भेज सकती हूँ ?

शुभकामनाओं सहित

सुरभि , तोक्यो

जब से मैंने तुम्हारी पत्रिका *जापान-भारती* पढ़ी, तभी से मैं तुम्हे पत्र लिखने का सोच रही थी । सबसे पहले तो तुम हमारी हार्दिक बधाई व शुभकामनायें स्वीकार करो । तुमने अपनी इतनी व्यस्तता में भी समय निकाल कर जो यह पत्रिका निकाली है, यह सचमुच ही प्रशंसनीय, उत्साहवर्धक और सराहनीय है । जापान में रहकर भी अपनी मातृभाषा हिन्दी को नहीं भूले, तुम्हारा यह प्रयास भारत और जापान मैत्री और उसकी संस्कृति के प्रति सम्मान दर्शाता है ।

'जापान-भारती' नाम मुझे बहुत पसन्द आया, क्योंकि यह नामकरण दोनो देशों की मित्रता का द्योतक है ।

पत्रिका में व्रत-त्योहारों की रुची देखकर बहुत प्रसन्नता हुई । यह जापान में रहनेवाले भारतीयों के मन में अपने व्रत-त्योहारों को जीवित रखने का सुन्दर प्रयास है । तुम्हारी इस पत्रिका का भविष्य उज्वल है और यह दिन-दूनी रात चौगुनी उन्नति करे इन्हीं शुभकामनाओं के साथ,

ज्योति गोविल, मेरठ

जापान भारती पत्रिका का पिछला अंक पढ़ा, पढ़ कर बहुत खुशी हुई । जापान भारती को जापान में प्रकाशित कर के आपने बहुत अच्छा काम किया है । इसके लिए आपको तथा आपके सहयोगियों को बहुत-बहुत बधाई हो ।

पिछले अंक में आपने स्कंद पुराण के श्लोक प्रकाशित किए, पढ़ कर बहुत अच्छा लगा । मुझे आशा है कि आप इसी तरह और ज्ञान की बातें प्रकाशित करते रहेंगे ।

अशोक रावत का पत्र भी पढ़ा जिसमें उन्होंने जापान में रहने वाले इंसान की ज़िंदगी के बारे दो शब्दों में ही सब कुछ कह दिया है । मैं अगर जापान भारती के लिए कभी कुछ कर पाया तो अपने आपको बहुत भाग्यशाली समझूंगा ।

रवि जैन, कावासाकी

जापान भारती का अंक मेरे हाथ में है । पा कर सुखद आश्चर्य हुआ । आपको व आपके सहयोगियों को बधाई व शुभकामनाएं । विदेशों में भारतीय संस्कृति की पहचान बनाए रखने का यह प्रयास अत्यंत सराहनीय है ।

यह पत्रिका विभिन्न भारतीय और अन्य देशों के विद्वानों के सहयोग से अवश्य ही अधिक सशक्त और प्रभावशाली बन पाएगी । विभिन्न स्तम्भों को मैंने रोचक, शिक्षाप्रद एवं व्यापक सूचना-सूत्र के रूप में पाया । शुभकामना है कि यह प्रवृत्ति अधिकाधिक विकसित हो ।

आशा है कि आगामी अंकों में कुछ और स्तंभ देखने को मिलेंगे, जैसे आध्यात्म, अमृतवाणी, बुद्धि-परीक्षा, सामान्य-ज्ञान प्रश्नोत्तर आदि । शुभकामनाएं,

डॉ. कुन्तल, मेरठ,

जापान भारती के तृतीय एंव चतुर्थ अंक हस्तगत हुए। हार्दिक धन्यवाद व बधाई। जापान से 'जापान भारती' का प्रकाशन आपका सराहनीय व ***'सुशील'*** प्रयास है।

ऐसा लगता है कि भारतीय सांस्कृतिक व कलात्मक धरोहा के *'सौरभ'* से ***'अखिल'*** विश्व सुवासित है। स्वस्थ मनो***'रंजन'*** से भरपूर 'जापान भारती' जापान व भारत को एक सांस्कृतिक मंच पर लाने का सफल एंव सशक्त माध्यम है।

शुभ कामनाओं सहित,

डा. वी. डी. वार्ष्णेय,विश्वलेखा विला

विष्णु पुरी,अलीगढ़

शान्ति-मुक्ति

श्री विशन शर्मा ने इस अंक के लिए विशेष रूप से दो रचनाएं भेजी हैं। उनमें से एक है शांति और दूसरी है मुक्ति।

हे ईश्वर ! यह हमने क्या किया ?

हैरी ट्रूमैन ने १२ अप्रैल १९४५ को जब फ्रेंकलिन रूज़वेल्ट के स्थान पर अमरीकी राष्ट्रपति की गद्दी सम्भाली, तब दूसरा महायुद्ध चरम पर था। जापान न सिर्फ युद्ध में पूरी तरह उतर चुका था, बल्कि पर्ल हार्बर पर हमला करके उसने, अमरीका के नेतृत्व में लड़ रहे ***तथाकथित*** मित्र राष्ट्रों को खुली चुनौती भी दे डाली थी।

फ्रेंकलिन रूज़वेल्ट ने अलबर्ट आइंस्टाइन से मिले पत्र के आधार पर विश्व का पहला परमाणु बम बनाने के लिए जो महत्वाकाँक्षी **मैनहटन प्रोजेक्ट** शुरू किया था ,उसकी प्रगति के पूरे ब्यौरे से भी ट्रूमैन लगभग अनजान ही थे।

आरम्भ के दो सप्ताहों में उन्हें परमाणु बम की दिशा में हो रही प्रगति के बारे में पूरी तरह कुछ नहीं बताया गया। *और फिर अचानक एक दिन मैनहटन प्रोजेक्ट के नियंता जनरल लेस्ली आर.ग्रोव्ज़ ने राष्ट्रपति ट्रूमैन को इस अतिगोपनीय रहस्य की तमाम जानकारी कुछ इस तरह दी,मानों किसी बच्चे को सबक सिखा रहे हों।*

वैसे तब तक स्वयं जनरल लेस्ली आर. ग्रोव्ज़ भी इस बारे में आश्वस्त नहीं थे कि न्यू मैक्सिको के रेगिस्तान में परमाणु बम तैयार करने की यह विशाल योजना सफल होगी भी या नहीं । बार–बार यही आशंका सताए जा रही थी कि अगर कहीं समूचे ब्रह्माण्ड पर एकछत्र आधिपत्य दिलाने वाला यह करामाती हथियार थोथा निकला तो क्या मुँह दिखाएँगे दुनिया को।

जनरल ग्रोव्ज़ को एक और चिंता भी सताए जा रही थी–जनरल कर्टिस लीमे की बमवर्षक टुकड़ियां एक–एक करके जापानी शहरों को बमों का निशाना बनाती जा रहीं थीं। मार्च १९४५ में दस दिनों के दौरान बी–२९ बमवर्षकों की ११,६०० उड़ानों ने जापान के चार सबसे बड़े शहरों में ३२ वर्ग मील क्षेत्र बमों से भस्म कर दिया। कम से कम डेढ़ लाख लोग इस अग्नि में स्वाहा हो गए। अमरीकी विमानों ने तोक्यो पर ऐसी आग बरसाई कि धरती से हजारों फीट ऊपर उड़ते इन बमवर्षक विमानों के चालकों ने भी मानव माँस भुनने की तीखी गंध महसूस की। भुनते मानव मांस की इस तीखी गंध ने,मांसभक्षण के आदी उन जीवों के मन में भी एकबारगी तो मितली अवश्य उत्पन्न की होगी।

बमों से तबाही की यह खबरें जनरल ग्रोव्ज़ से सीने में बर्छियों की तरह चुभती थीं। इसलिए नहीं कि उन्हें निर्दोष लोगों के मरने का गम था ,*बल्कि उन्हें तो यह गम सताए जा रहा था कि अगर जापानी शहर इसी तरह बमबारी के शिकार होते रहे तो वे अपने इस करामाती बम के जौहर कहां दिखलाएंगे।*

विश्व के प्रथम परमाणु बम का निशाना लगाने के लिए जिन जापानी शहरों के नामों पर विचार चल रहा था उनमें से एक हिरोशिमा भी था। लेकिन जनरल ग्रोव्ज़ की नज़रें तो वास्तव में जापान की प्राचीन राजधानी क्योतो पर टिकी थीं। उन्होंने सोचा कि बौद्ध और शिन्तो मंदिरों के लिए विख्यात इस सांस्कृतिक स्थल को निशाना बनाने से परमाणु बम की करामाती शक्ति और भी चमत्कारी रूप में सामने आएगी।

भला हो राष्ट्रपति ट्रूमैन के युद्धसचिव हेनरी एल.स्टिमसन का ,जो विश्व की यह अनमोल सांस्कृतिक धरोहर परमाणु बम की आग में भस्म होने से बच गई।

स्टिमसन ने सख्ती के साथ जनरल ग्रोव्ज़ की यह पेशकश ठुकराते हुए कहा था कि क्योतो पर बम गिराना बिल्कुल वैसा ही होगा,जैसे जापानी सेना लिंकन स्मारक पर हमले की सोचे।

कहते हैं कि स्टिमसन ने राष्ट्रपति ट्रूमैन को यह समझाने की कोशिश भी की थी कि जापानी सेना का मनोबल काफी कमज़ोर हो चुका है, उस पर काबू पाने के लिए परमाणु बम का उपयोग आवश्यक नहीं है। किन्तु राष्ट्रपति ट्रूमैन की आंखों में तो सम्भवतः स्टालिन और चर्चिल को नीचा दिखाकर दिग्विजयी सम्राट कहलाने और समूचे विश्व पर अमरीकी परचम फहराने का सपना हिलोरें लेने लगा था।

आखिरकार १६ जुलाई १९४५ का न्यू मैक्सिको के आल्मागार्दो रेगिस्तान में अमरीका ने विश्व का प्रथम परमाणु परीक्षण कर लिया। उस समय राष्ट्रपति ट्रूमैन और अमरीकी विदेश मंत्री जिमी बायर्न्स बर्लिन के पास पोट्सडम में सोवियत नेता जोसेफ स्टालिन और ब्रिटिश प्रधानमंत्री विंस्टन चर्चिल के साथ मिलकर नई रणनीतियां तय कर रहे थे।

परमाणु बम के सफल परीक्षण की खबर मिलते ही राष्ट्रपति ट्रूमैन के चेहरे पर दृढ़ आत्मविश्वास की अद्भुत चमक झलकने लगी। मानों स्टालिन, चर्चिल और जापान तो क्या समूची दुनिया को अपने इशारों पर नचाने की अकूत ताकत उन्हें मिल गई हो।

राष्ट्रपति ट्रूमैन ने स्वयं अपनी डायरी में लिखा है, ***'हमने दुनिया के इतिहास में सबसे घातक बम खोज लिया है।'***

उसके बाद ट्रूमैन इस घातक बम के जौहर दुनिया को दिखलाने का लोभ संवरण नहीं कर सके ।

३१ जुलाई १९४५ को उन्होंने आदेश दे दिया कि २ अगस्त के बाद जब भी मौसम अनुकूल हो यह बम जल्दी से जल्दी हिरोशिमा पर गिरा दिया जाए।

राष्ट्रपति ट्रूमैन ने, शायद अपनी अन्तरात्मा को तसल्ली देने के लिए , यह भी लिखा था कि बम का निशाना सिर्फ सैन्य ठिकानों को ही बनाया जाए–महिलाओं और बच्चों को नहीं।

पर विडम्बना देखिए, ६ अगस्त की काली सुबह गुआम से लगभग ३०० किलोमीटर उत्तर–उत्तरपूर्व में बसे छोटे से टापू तिनएन से उड़े बी–२९ एनोला गे बमवर्षक ने ठीक आठ बजकर पंद्रह मिनट पर जो परमाणु बम गिराया उसने हिरोशिमा की महिलाओं और बच्चों के चिथड़े उड़ा दिए।

बम से उत्पन्न आग की असहनीय झुलसन से मुक्ति पाने के लिए हिरोशिमा की सात नदियों की तरफ भागती महिलाओं के शरीर से मांस ऐसे लटक रहा था जैसे किसी पुराने किमोनो के चिथड़े लटक रहे हों। दुधमुँहे बच्चे माँ की गोद में ही चिपके रह गए। हवा में उड़ती चिड़ियों की राख भी न मिली। पत्थर के चबूतरों पर इंसानी परछाइयों के निशान आज तक मौजूद हैं।

बताया जाता है कि जो ७०,००० नर–नारी और बच्चे तो पलक झपकते ही उस आग में भस्म हो गए उनमें से अधिकाँश का सेना से कोई लेना–देना नहीं था। उसके बाद भी रेडियोधर्मी किरणों के ज़हर और जलते घावों ने लाखों जानें और ले लीं।

उस ***लिटिल बॉय*** यानी ***नन्हे बालक*** (अमरीका ने उस परमाणु बम को यही नाम दिया था) ने मौत का ऐसा कहर बरसाया था कि एनोला गे के विमान चालक भी एक बार तो ठिठक कर रह गए।

इस बी–२९ बमवर्षक के चालक **ले.कर्नल पॉल टिब्बट्स** ने लिखा है–*बम गिराने के बाद हमने मुड़कर हिरोशिमा पर नज़र डाली। सारा शहर उफनते काले गहरे धुँए के गुबार में लिपटा हुआ था।* पल भर के लिए सब चुप रहे, फिर सहचालक **रॉबर्ट लुइस** ने टिब्बट्स के कन्धे पर धौल जमाते हुए कहा **'वो देखो,वो देखो** !' लुइस को अपने मुँह में परमाण्विक विखण्डन की सीसे की–सी कड़वाहट महसूस हुई। उसने अपनी पुस्तिका में लिखा —

हे ईश्वर ! यह हमने क्या किया ?'

यह शब्द महज़ शब्द नहीं इंसानियत के भीतर पश्चाताप की अग्नि में झुलसती अन्तरात्मा की कातर पुकार हैं जिनकी गूँज आज तक हमें झकझोर रही है। यह और बात है इंसान अपनी अन्तरात्मा से उठे इस सवाल का जवाब आज तक नहीं दे पाया है।

लिखने वाले ने क्या खूब लिखा है –

'जग से चाहे भाग
ले कोई,
मन से भाग
न पाए .....'

♠अखिल♠

इतनी भयावह त्रासदी के पचास बरस बाद भी परमाणु युद्ध का खतरा हमारी दुनिया पर मँडरा रहा है। आज भी हम उतने ही असुरक्षित हैं। रह-रह कर यही सवाल उठता है...

ये क्या जगह है दोस्तों ?

हिरोशिमा पर बम गिराने के बरसों बाद भी राष्ट्रपति ट्रूमैन ने अपने निर्णय को सही ठहराते हुए कहा था कि परमाणु बम गिराने का आदेश देकर उन्होंने लाखों जीवन बचा लिए।

सही ग़लत की यह अन्तहीन बहस पिछले ५० बरस से निरन्तर जारी है। एक तर्क यह भी दिया जाता है कि अगर यह बम न गिराया जाता और हिरोशिमा-नागासाकी में इतनी तबाही न मचती तो इस महाविनाशकारी हथियार की भयावहता सामने ही न आ पाती।

कहने वाले तो यह भी कहते हैं कि जापान में इसके कहर से सबक लेकर ही इन्सान ने फिर कभी, किसी युद्ध में परमाणु बम नहीं आज़माया। पर क्या वास्तव में हमने कोई सबक सीखा है ?

अगर सीखा है तो १६ जुलाई १९४५ को आल्मागार्दो रेगिस्तान से शुरू हुई परमाणु परीक्षणों की अन्धी दौड़ थमने के बजाए पिछले ५० बरस में १८६७ का आँकड़ा कैसे पार कर गई ?

परमाणु परीक्षणों पर आँशिक रोक तथा परमाणु शस्त्र अप्रसार संधि के बावजूद चीन और फ्राँस जैसे देश आज भी परमाणु परीक्षण करने पर क्यों तुले हुए हैं ?

चेरनोबिल से लेकर तारापुर तक रेडियोधर्मी रिसाव की घटनाएं क्यों हो रही हैं ? जापान जैसे देश में परमाणु बिजलीघरों की स्थापना और पुर्नसंसाधित प्लूटोनियम जमा रखने के लिए गाँव के गाँव क्यों उजाड़े जा रहे हैं ?

पिछले पचास बरस में हुए कुल परमाणु परीक्षणों पर नजर डालें तो पता चलता है कि अमरीका ६४२, रूस ६४८, फ्राँस १६२, ब्रिटेन ४४ और चीन करीब ४० परीक्षण कर चुका है। इतना ही नहीं भारत ने भी शांतिपूर्ण कार्यों के लिए १८ मई १९७४ को एकमात्र भूमिगत परीक्षण किया था।

भारत के इस परीक्षण ने तो अमरीका सहित परमाणु शक्ति सम्पन्न देशों की नींद उड़ा दी। चारों तरफ शोर मच गया कि अहिंसा के पुजारी गाँधी का देश भी इस अँधी दौड़ में शामिल हो गया है। इस बहाने विश्व शांति के दरोगाओं ने शक्ति संतुलन के नाम पर कुछ हथियार भी बेच लिए।

जहाँ तक भारत का सवाल है वो बार-बार कह चुका है कि परमाणु शस्त्रों की होड़ में शामिल होने का उसका कोई इरादा नहीं है। और फिर अहिंसा का अर्थ अपनी सुरक्षा से बेखबर रहकर चुपचाप पिटते जाना तो नहीं है।

आजादी के बाद चार बिन-बुलाए युद्धों और १९७१ में अमरीकी बेड़े की धमकी भारत की सुरक्षा चिंताओं को समझने के लिए काफी है। नरभक्षी बाघों के बाड़े में निहत्थे प्रवेश तो हर तरह से आत्महत्या ही कहलाएगा।

भारत ने अपनी सुरक्षा की जिम्मेदारी उन देशों को ठेके पर भी नहीं दे रखी है जो खुद घातक से घातक हथियारों का विशाल भंडार जमा करने और हथियारों का व्यापार करने के बाद दुनिया को शांति का पाठ पढ़ा रहे हैं। अपनी ताकत की धौंस दिखाकर ऐसी परमाणु शस्त्र अप्रसार संधि करवा रहे हैं जो उन्हें तो परमाणु शस्त्रों के असीमित भंडार और चोरी छिपे व्यापार की खुली छूट देती है पर उनसे आतंकित देशों को आत्मरक्षा के अधिकार से भी वंचित रखना चाहती है। सच तो यह है कि जब तक परमाणु

शस्त्रों का मौजूदा भंडार पूरी तरह नष्ट नहीं किया जाता और भविष्य में हर तरह के परमाणु परीक्षणों पर पक्की रोक नहीं लगती तब तक भावी पीढ़ियों को सुरक्षित भविष्य दे पाने की कल्पना भी बेमानी है। इस सच्चाई से आँख मूँदे रहना तो शुतुरमुर्ग की तरह रेत में सिर गड़ाए बैठे रहने के समान ही है।

हिरोशिमा–नागासाकी परमाणु बम त्रासदी के आँखों देखे चित्रों के लिए प्रसिद्ध, मरूकी चित्रकार दम्पति की चित्र–पुस्तिका **'द हिरोशिमा पैनल्स'** में लिखा है–जिन्होंने ऐसे नरसंहार का आदेश दिया वो तो नरक के भागी हो ही चुके हैं ,पर हमारा क्या होगा ? हम भी स्वर्ग के अधिकारी तो नहीं होंगे ! हमें भी नरक ही भोगना पड़ेगा। पर क्यों ? हमने तो परमाणु बम नहीं गिराया? हमने तो नहीं की नरहत्या? फिर भी हम नरक में जाएंगे क्योंकि हम युद्ध नहीं रोक पाए। परमाणु युद्ध में,परमाणु शक्ति की ज्वाला से, जब हमारी इस धरा से मिट जाएगा जीवन का नामोनिशान,तो नहीं बचेगा कोई उसे जीवन देने वाला !

इसमें कोई दो राय नहीं हो सकतीं कि अगर अब भी हम सच से आँखे फेरे बैठे रहे तो हमारी भावी संतानें इस दुनिया में आँख खोलते ही शहरयार साहब की ज़बानी पूछेंगी —

ये क्या जगह है दोस्तों ?
ये कौन–सा दयार है ?
हदे निगाह तक जहाँ
गुबार ही गुबार है....

♠ अमिल ♠

युवा-पीढ़ी का आश्चर्यजनक असमंजस

– प्रो. हरजेन्द्र चौधरी

इसे मेरी खुशकिस्मती समझें या बदकिस्मती, प्राध्यापक होने के कारण मेरा सम्पर्क अधिकतर १९-२५ आयुवर्ग की युवा-पीढ़ी से रहा है । भारत में इस आयुवर्ग के लोग जोशीले आशावादी, आत्मप्रदर्शन की ललक और भविष्योन्मुखी आदर्शो और सपनों से लबालब भरे होते है । दूसरी ओर, विरोध और विद्रोह जैसे भाव भी इस उम्र में खुलकर प्रकट होने लगते है। जिन व्यक्तियों, वस्तुओं या स्थितियों के प्रति मन में असंतोष धधकता है, कभी कभी उनको समूल मिटा देने तक की कच्ची सोच भीतर में खदबदाने लगती है। भारतीय स्वभाव के बातूनीपन के कारण भारत में व्यक्ति के व्यवहार को देखकर पता चल जाता है कि उसके मन में क्या है और क्या नहीं है।

इसके विपरीत, जापानी स्वभाव की मितभाषिता, आदतन अलगाव और 'अपने काम से काम रखने' की प्रवृत्ति के कारण सम्बंधों-सम्पर्कों मे ठंडापन ही अधिक देखने में आता है। बिना कुरेदे किसी भी व्यक्ति के मन की थाह को जानना यहाँ आसान नहीं है। कभी-कभी तो कुरेदने और कुरेदते रहने के बावजूद आपको खाली हाथ लौटना पड़ सकता है।

खैर! मैंने अनेक युवाओं को कुरेदा कि युद्ध और शांति के बारे में वे क्या सोचते है। विश्वयुद्ध और परमाणु-बम की विभीषिका भुगत चुके इस देश के लिए यह प्रश्न कहीं अधिक स्वाभाविक और महत्वपूर्ण है।

अधिकतर युवाओं ने उत्तर दिया कि जापान को युद्ध नहीं करना चाहिए। दुनिया में किसी भी युद्ध में परमाणु हथियारों का प्रयोग तो बिल्कुल ही नहीं किया जाना चाहिए। यह उत्तर बहुत सामान्य, सुखद और सपाट है। सुनकर अच्छा लगता है।

मैंने फिर कुरेदा - 'यदि कोई अन्य देश जापान पर आक्रमण कर दे तो आप लोग क्या करेंगे ? सैनिक बन कर लड़ेंगे ?' उत्तर मिला - 'कोई देश जापान पर आक्रमण नहीं करेगा।'

मैंने फिर दोहराया - 'यदि कोई आक्रमण नहीं करेगा तो फिर तो कोई समस्या है ही नहीं। अगर कर दे तो ?

सब युवाओं का उत्तर बड़ा 'रेडीमेड' किस्म का था - 'तो अमेरिका हमारी रक्षा करेगा।'

मैंने अपनी ढीठता नहीं छोड़ी - 'यदि अमेरिका और जापान के बीच तनाव हो जाए और वह रक्षा के लिए आगे न आए तो ?'

इस 'तो' के बाद मैदान खाली था। जिन दस बारह युवक-युवतियों से मेरी बातें हो रही थी, वे सब असमंजस में पड़ गए। कुछ अंतराल के लिए विषय बदल गया । भारत की रक्षा व्यवस्था और संसार भर में उपभोक्तावाद के प्रसार की हल्की-सी चर्चा हुई । मुझे विचार आया कि अत्याधिक रक्षा-व्यय (डिफ़ेंस बजट) भारत की व्यवहारिक मजबूरी बन चुका है - इस बात को लेकर हम भारतीयों के मन में (स्वास्थ्य, शिक्षा, आदि महत्त्वपूर्ण मदों की उपेक्षा होने के कारण) दुःख और कसमसाहट तो है,

लेकिन किसी प्रकार की दुविधा नहीं है । दुविधा इसलिए नहीं है कि १९६२ के बाद आत्मरक्षा की चिंता सम्भवतः हमारी प्राथमिक चिंता रही है। विकास दूसरे स्थान पर आता है। शांति की इच्छा के बावजूद कभी-कभी अनचाहे ही आत्मरक्षा के लिए युद्ध में उलझने की मजबूरी किसी भी देश के सामने आ सकती है।

मानते हैं कि युद्ध नहीं होना चाहिए । शांति की इच्छा जितनी स्वभाविक और महत्त्वपूर्ण है, आत्मरक्षा की चिंता भी उतनी ही स्वभाविक और अनिवार्य है।

१९४५ के पूर्वाद्ध में हर सक्षम जापानी नागरिक एक तरह से सैनिक जैसा था । तब स्थितियाँ ही कुछ ऐसी थीं । फिलहाल, बुजुर्गों और प्रौढ़ों के बारे में मैं नहीं जानता, पर जापान की युवा पीढ़ी तो उपभोक्तावादी स्वभाव की है । अधिकतर लड़के-लड़कियाँ माता-पिता या परिवार से दूर रह कर खुश रहते हैं । अपनी सुविधाओं और प्राइवेसी में किसी तरह का हस्तक्षेप उनके लिए दुस्सह है।

यह अच्छी बात है कि जापान की नयी पीढ़ी स्वभावतः शांति समर्थक है । पर युद्ध की अपरिहार्यता की बात छिड़ने पर उसका अनिर्णय और असमंजस में पड़ जाना आश्चर्य की बात है। ***सुविधाओं और व्यक्तिवादी स्वतंत्रता की 'अधिकारिणी' यह पीढ़ी स्वयं को अपने माता-पिता, समाज तथा राष्ट्र की ऋणी समझती है या नहीं - मुझे पता नहीं।***

♠♠♠♠

युद्ध के बाद थके-हारे जापानियों के लिए आशा के संदेशदूत नोबेल पुरस्कारों और संस्कृति पदक अलंकरणों का किस्सा --- *मिवाको कोएज़ुका* की कलम से....

द्वितीय विश्व युद्ध समाप्त होने के चार वर्ष बाद १९४९ में डा. हिदेकी युकावा, ऐसे पहली जापानी हुए जिन्हें नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया । १९०१ में शुरु किए गए इस पुरस्कार को विश्व का सबसे अधिक सम्मानित पुरस्कार माना जाता है । डा. युकावा को भौतिकी के क्षेत्र में नोबेल पुरस्कार से विभूषित किया जाएगा, यह घोषणा सुन कर आदर्श राष्ट्र-रूप से वंचित, युद्ध के थके-हारे अधिकांश जापानियों के मन में मानो आशा की एक किरण चमकती दिखाई दी। वस्तुतः डा. युकावा ने यह घोषणा सुन कर कहा था कि मुझे नोबेल पुरस्कार मिलने से अपने देशवासियों के फिर से आत्मविश्वास दिलाने में योग मिलेगा, इस आशा से बढ़ कर और खुशी मुझे नहीं होगी ।

१९६५ में दूसरे जापानी के रुप में डा. शिनइचिरो तोमोनागा को भौतिकी के ही क्षेत्र में नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ। १९६८ में तीसरे जापानी के रुप में जब यसुनारी कवाबाता को साहित्य के क्षेत्र में नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया तब अनेक जापानियों को महसूस हुआ कि अब तो जापानी सभ्यता संस्कृति को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मान्यता प्राप्त हो गयी। युद्ध पश्चात के जापानियों के मन में गौरव लौट आया।

नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किये जाने से पहले इन तीनों को जापान का सर्वोच्च पुरस्कार माना जानेवाला संस्कृति पदक प्रदान किया जा चुका था। सब से पहले ११ फरवरी १९३७ को शाही फरमान निकाल कर कला, विज्ञान और संस्कृति के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान करने वालों को संस्कृति पदक से सम्मानित करना आरम्भ किया गया । यह संस्कृति पदक सब से पहले २८ अप्रैल १९३७ को तीन वैज्ञानिकों, एक कवि,एक उपन्यासकार और चार चित्रकारों को प्रदान किया गया ।

द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त होने के बाद राजतंत्र के स्थान पर प्रजातंत्र वाला युग आरम्भ हुआ । अनेक बातों में भारी परिवर्तन किया गया लेकिन इस पुरस्कार को यथावत रखा गया । युद्ध पश्चात के जापान में १९४७ में युद्ध की भर्त्सना करने वाला संविधान लागू हुआ जिस में घोषणा की गई कि देश का सार्वभौमिक अधिकार सम्राट के हाथ में नहीं देशवासियों के हाथ में होगा । और जापानी सम्राट सरकार की सलाह और अनुमति पा कर अन्य अनेक राष्ट्रीय कार्यालय सम्पन्न करने के साथ - साथ राष्ट्रीय पुरस्कार का वितरण भी करेंगे । द्वितीय विश्व युद्ध समाप्त होने के बाद १९४८ में नए सिरे से राष्ट्रीय अवकाश संबंधी कानून की व्यवस्था की गई और ३ नवंबर को संस्कृति दिवस के तौर पर राष्ट्रीय अवकाश का दिन निर्धारित किया गया। संस्कृति पदक १९४९ में ८वी बार ३ नवम्बर को प्रदान किये जाने के बाद प्रति वर्ष ३ नवम्बर को ही प्रदान किया जाता आ रहा है।

३ नवम्बर १९४९ से पहले ७ बार भिन्न-भिन्न तिथियों पर यह संस्कृति पदक प्रदान किया गया था ।

चौथे जापानी के रुप में डा. लेओना एसाकी को एक बार फिर भौतिकी के क्षेत्र में १९७३ में नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया। और उन्हें तो अगले ही वर्ष १९७४ में संस्कृति पदक से विभूषित किया गया। तब वे ४९ वर्ष के थे। पाँचवे नोबेल पुरस्कार विजेता जापानी, भूतपूर्व प्रधान मंत्री एसाकु सतो १९७४ में पुरस्कृत हुये। छठे नोबेल पुरस्कार विजेता जापानी डा. केनइचि फुकुई १९८१ में ६३ वर्ष की आयु में रसायन शास्त्र के क्षेत्र में पुरस्कृत हुये। वे उसी वर्ष संस्कृति पदक से भी विभूषित हुये लेकिन नोबेल पुरस्कार वाली घोषणा उस से पहले हुयी।

जापान के ७वे नोबेल पुरस्कार विजेता, चिकित्सा और शरीर विज्ञान के डा. सुसुमु तोनेगावा को १९८७ में पुरस्कृत किया गया जिन्हें उस के ३ वर्ष पहले संस्कृति पदक प्रदान किया जा चुका था।

१३ अक्तूबर १९९४ को ५९ वर्षीय श्री केंजाबुरो ओए को साहित्य के क्षेत्र में नोबेल पुरस्कार प्रदान करने की घोषणा हुयी। उसके अगले दिन उन्हें जापानी संस्कृति पदक प्रदान करने की शिक्षा मंत्रालय की योजना के संबध में अवगत कराया गया जिसे स्वीकार करने में उन्होंने असमर्थता प्रकट की। नोबेल पुरस्कार स्वीकार करते हुये देशीय सर्वोच्च पुरस्कार अस्वीकार करने के संबंध में श्री ओए को यह कहते सुना गया कि मैंने युद्ध पश्चात के प्रजातांत्रिक युग में अपनी माध्यमिक शिक्षा प्राप्त की। लोकतंत्र के हिमायती के लिए संस्कृति पदक से पुरस्कृत होना शोभा की बात नहीं लगी।

औसत रुप से वैज्ञानिकों को उन की युवावस्था में साहित्यकारों को वृध्दावस्था में न केवल संस्कृति पदक बल्कि अन्य अनेक महत्वपूर्ण पुरस्कार प्राप्त होते है। विशेष रुप से ऐसे समय जब कि जापानियों का औसत जीवन काल विश्व में सबसे लंबा होता चला आ रहा है, संस्कृति पदक विजेता औसत रूप से ७७, ७८ या ८१, ८२ वर्ष की आयु में यह गौरव प्राप्त करते है।

मुझे शिक्षा मंत्रालय से शिकायत है कि क्यों कर जल्दबाजी में यह बात उसे सूझ गयी कि नोबेल पुरस्कार विजेता को संस्कृति पदक से विभूषित करके रखना होगा। संस्कृति पदक ३ नवम्बर को दिया जाता आ रहा है जब कि नोबेल पुरस्कार १० दिसम्बर को दिया जाता है हांलाकि उस की घोषणा महीनों पहले हो जाती है। यह प्रचलन भी है कि अर्से से, संस्कृति के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान करने वालों को पेंशन देकर सम्मानित किया जाता आ रहा है। जिन के बीच से कई वर्ष बाद कोई संस्कृति पदक विजेता बन जायेंगे।

साम्यवाद विरोधी, अति दक्षिणपंथी, एक छोटा दल, संस्कृति पदक स्वीकार न करने के लिये श्री केजाबुरो ओए की तीव्र आलोचना करता है। इस दल को घोर आपत्ति है कि श्री केजाबुरो ओए सम्राट विरोधी है, अराजकतावादी है जिन्होंने सम्राट के अधिकार और गौरव को मिट्टी में मिला दिया।

♣♣♣♣

रहस्य इस सफलता का

दूसरे विश्व युद्ध के ५० साल बाद जापान की समृद्धि को देख कर यह उस समय की तबाही पर यकीन करना भी कठिन लगता है ।

कैसे गुजरे ये साल ?

कैसे हुई यह करामात ?

हिरोशिमा एवं नागासाकी के उन भयानक विस्फोटों के बाद भी युद्ध का अंत सबके मन में निश्चित नहीं था ।

सेना में विद्रोह तक की बातें हो रही थी । पर साथ ही जापान के नए सिपाही राष्ट्र-निर्माण की तैयारियां भी कर रहे थे ।

प्रस्तुत हैं *सोनी कार्पोरेशन* के संस्थापक आकियो मोरिता के संस्मरण -

अचानक हमारी दुनिया ही बदल गई थी । सम्राट, जिन्होंने अब तक कभी जनता से खुल कर बातें नहीं की थी, ने कहा कि आने वाले साल बहुत कठिन होंगे । पर जापानियों को सारे बड़े से बड़े कष्ट उठा कर भी आगे की पीढ़ियों के लिए शांति और प्रगति का रास्ता बनाना होगा ।

मैं अपने घर पर था । मुझे लगा कि मुझे सेना के अपने स्टेशन पर पहुँच कर अपने आदेशों की प्रतीक्षा करनी चाहिए । मैंने सोचा कि रेल वगैरह तो बंद हो गई होंगी इसलिए मैंने माँ से कहा

कि तीन दिन की यात्रा के लिए खाना साथ में दे दें ।पर रेल बिल्कुल वक्त पर आई और यात्रा बड़ी आरामदेह थी ! मैं बड़े आराम से ढेर सारे खाने के साथ अपने स्टेशन पहुँच गया ।

सेना के स्टेशन पर बड़ी उलझन थी । हमारे लिए कोई आदेश ही नहीं थे । कई दिन गुज़र गए । हमारे पास सारे दिन सके पीने के अलावा कोई काम ही नहीं था । बाकी जगहों में भी ऐसी ही हालत थी ।

आत्मसमर्पण का मतलब सबकी समझ में नहीं आ रहा था । फिर आदेश आया कि सब जरूरी कागज़ात जला दिए जाएँ । और हमने यह काम कुछ ज़्यादा ही उत्साह से किया !

जल्दी ही सेना से मुक्ति मिल गई और हम सब अपने घरों की ओर चले । जापान के लिए युद्ध का अंत एक ओर तो बड़ी राहत थी और दूसरी ओर बड़ी त्रासदी ।

शांति का यह नया दौर बड़ा अजीब था । बम तो अब नहीं गिरते थे पर बम गिराने लायक कुछ बचा ही कहाँ था ? ओसाका, नागोया, योकोहामा, तोक्यो हर जगह केवल कंक्रीट की मजबूत इमारतें ही खड़ी थीं ।

आधे से ज्यादा लोग तोक्यो छोड़ कर जा चुके थे । शहर में पहले से कोई दस प्रतिशत गाड़ियाँ चलती होंगी । पेट्रोल वगैरह की बड़ी कमी थी । लकड़ी, कोयले और तेल से चलने वाले इंजन लगा कर उन्हें चलाया जाता थ। सिनेमा हॉल में बड़ी भीड़ होती थी । *लोगों के पास काम तो बचा नहीं था ।*

हम सारे भाई युद्ध के बाद किस्मत से सही सलामत घर वापस आ गए थे । उन्हीं दिनों मुझे अपने प्राध्यापक हात्तोरी साहब का पत्र मिला कि अब वे *तोक्यो इंस्टीट्यूट ऑव टैक्नॉलॉजी* में आ गए हैं और अपंग विद्यार्थियों के लिए एक विशेष स्कूल खोल रहे हैं । उन दिनों शिक्षकों की बड़ी कमी थी और वे चाहते थे कि मैं उनके स्कूल में शिक्षक बनूँ । मुझे यह बात पसंद आई क्योंकि एक ओर मुझे अपने प्रिय विषय भौतिकी पर काम करने का अवसर मिलता और दूसरी ओर तोक्यो में रहने का अवसर भी ।

इसी बीच मैंने अपने पुराने मित्र इबुका को भी ढूंढ निकाला । इबुका बड़े मेधावी इंजिनियर थे । नागानो में उनकी एक कंपनी थी - निहॉन सोकुतेकी । पर वे उस छोटी जगह में काम करने से संतुष्ट नहीं थे और तोक्यो में अपनी प्रयोगशाला खोलना चाहते थे ।

यह प्रयोगशाला उन्होंने खोली निहोमबाशी की बमबारी से बिल्कुल क्षतिग्रस्त एक इमारत में । इसका नाम था तोक्यो तुशीन केन्क्युशो। थोड़े से पैसे और ढेर सारे विचार, इबुका के पास बस यही पूँजी थी ।

उनकी छोटी सी टीम उस टूटी इमारत में बैठ कर सोचती कि अब आगे क्या किया जाए । कई तरह के ख्याल आते । कोई कहता कि इन टूटी इमारतों को साफ कर एक छोटा सा *गॉल्फ़ कोर्स* बनाया जाए, तो कोई खाने की चीजों के व्यवसाय की बात करता ।

खाना उन दिनों सबके दिमाग में होता था । फिर तय हुआ कि चावल पकाने के लिए *कुकर* बनाया जाए । पर यह ठीक से बन नहीं पाया ।

आखिर उन्होंने अपनी पत्नियों से कहा कि वे इसके *इलेकट्रोडों* को कपड़े में सी कर इनकी *हीटिंग पैड* बना दें । ये बाजार में चलीं और कुछ पैसे मिले ।

पर इबुका *हीटिंग पैड* बनाने के लिए तोक्यो थोड़े ही आए थे ! युद्ध के समय *शॉर्ट वेव* रेडियो के इस्तेमाल पर सख्त पाबंदी थी । सारे रेडियो *मीडियम वेव* वाले थे । इबुका ने एक अलग उपकरण बनाया जिसे *मीडियम वेव* वाले रेडियो के साथ लगा कर *शॉर्ट वेव* रेडियो की तरह इस्तेमाल किया जा सकता था ।

इस बीच मैं भी तोक्यो पहुँच गया । मुझे मालूम था कि इबुका को पैसे की कठिनाई है । मैंने उनसे कहा कि मैं अगर उनकी कंपनी में आधे समय तक काम करूँ तो मेरी स्कूल वाली तनख्वाह से दोनों का काम चल जाएगा ।

मुसीबत केवल पैसों की थोड़े ही थी । कल-पुर्जों की बड़ी कमी थी । तोक्यों की सड़कें धूल, धुंए और शोर से भरी होती थी । गैस मुश्किल से मिलती थी । कालाबाजारी जोरों पर थी ।

बहरहाल हमने मिलजुल कर सोनी कॉर्पोरेशन की नींव तो रख ही दी थी । धीरे-धीरे जब बात दूसरे देशों में बेचने की आई तो दूसरी मुश्किलें आईं । हमें अंग्रेजी नहीं के बराबर आती थी । दुनिया में संगीत का जादू फैलाना इतना आसान कहाँ था !

♣रंजन कुमार♣

द्वितीय विश्व-युद्ध - क्या, कब, कहाँ ?

२८ जून, १९१९ द्वितीय विश्व-युद्ध की नींव तो प्रथम विश्व-युद्ध के अंत के साथ ही पड़ गई थी। वर्साइ संधि में यूरोप का मनमाना विभाजन।

तानाशाही शासकों का उदय । - १९३१-३२, जापान की सेना का मंचूरिया पर अधिकार । - १९३५-३६ इटली का इथियोपिया पर आक्रमण और अधिकार ।

१९३६, जापान और जर्मनी के बीच कम्युनिस्ट विरोधी संधि

ब्रिटेन एवं फ्रांस की ढुलमुल नीति और युद्ध से बचने की कोशिशों से हिटलर को बढ़ावा । - १९३६, राइनलैंड और ऑस्ट्रिया पर हिटलर का अधिकार - १९३८, म्युनिख समझौता, हिटलर द्वारा चेकोस्लोवाकिया के जर्मानभाषी प्रदेशों पर आक्रमण न करने का वचन

१९३९, स्तालिन और हिटलर के बीच अनाक्रमण संधि

१ सितंबर, १९३९, जर्मनी का पोलैंड पर हमला । ३ सितंबर को फ्रांस और ब्रिटेन द्वारा जर्मनी पर युद्ध की घोषणा ।

अप्रैल, १९४०, जर्मनी का नॉर्वे और डेनमार्क पर आक्रमण और अधिकार । १० मई, १९४०, हॉलैंड, बेल्जियम और लक्ज़मबर्ग पर जर्मनी का वर्चस्व ।

२-४ जून, १९४०, जर्मन टैंक इंग्लिश चैनेल पहुंचे । डनकर्क से ब्रिटेन एवं फ्रांस की सेना के ३३८,००० से ज्यादा सैनिक का दो दिनों में पीछे हट कर ब्रिटेन पहुँचे । फ्रांस पर जर्मनी का वर्चस्व ।

अगस्त-अक्तूबर, १९९४०, जर्मन वायुसेना, *लुफ्तवाफे*, द्वारा ब्रिटेन की वायुसेना को खत्म करने की कोशिश । ब्रिटेन का युद्ध ।

जून १९४०, इटली का युद्ध में प्रवेश । लीबिया और ग्रीस में इटली की हार ।

अप्रैल-मई, १९४१, जनरल रोमेल के नेतृत्व में जर्मन सेना इटली की सहायता को पहुँची । यूगोस्लाविया, ग्रीस और क्रैट पर जर्मनी का वर्चस्व ।

२२ जून, १९४१, जर्मन सेना का सोवियत यूनियन में प्रवेश । पाँच महीने के भीतर जर्मन सेना मॉस्को से ३० मील की दूरी पर पहुँच गई ।

१९४२-१९४५, ब्रिटिश और अमरीकी वायुसेना द्वारा जर्मनी पर बमबारी ।

अगस्त १९४२, अमरीकी नौसेना गुआडालकनाल पहुँची।

जनवरी, १९४३, जर्मन सेना के ११०,००० सैनिकों का स्तालिनग्राद में आत्मसमर्पण (बाकी १६०,००० मारे जा चुके थे) ।

अक्तूबर, १९४२, ब्रिटिश सेना ने जर्मन-इतालवी सेना को पीछे धकेल दिया ।

जुलाई १९४३, कुर्स्क में जर्मन सेना को सोवियत लाल सेना से करारी मात ।

जुलाई, १९४३, अमरीकी सेना जनरल आइज़नहावर के नेतृत्व में सिसिली पहुँची । सितंबर, १९४३ में इटली पर आक्रमण ।

अक्तूबर, १९४४,

क्या, कब, कहाँ ?

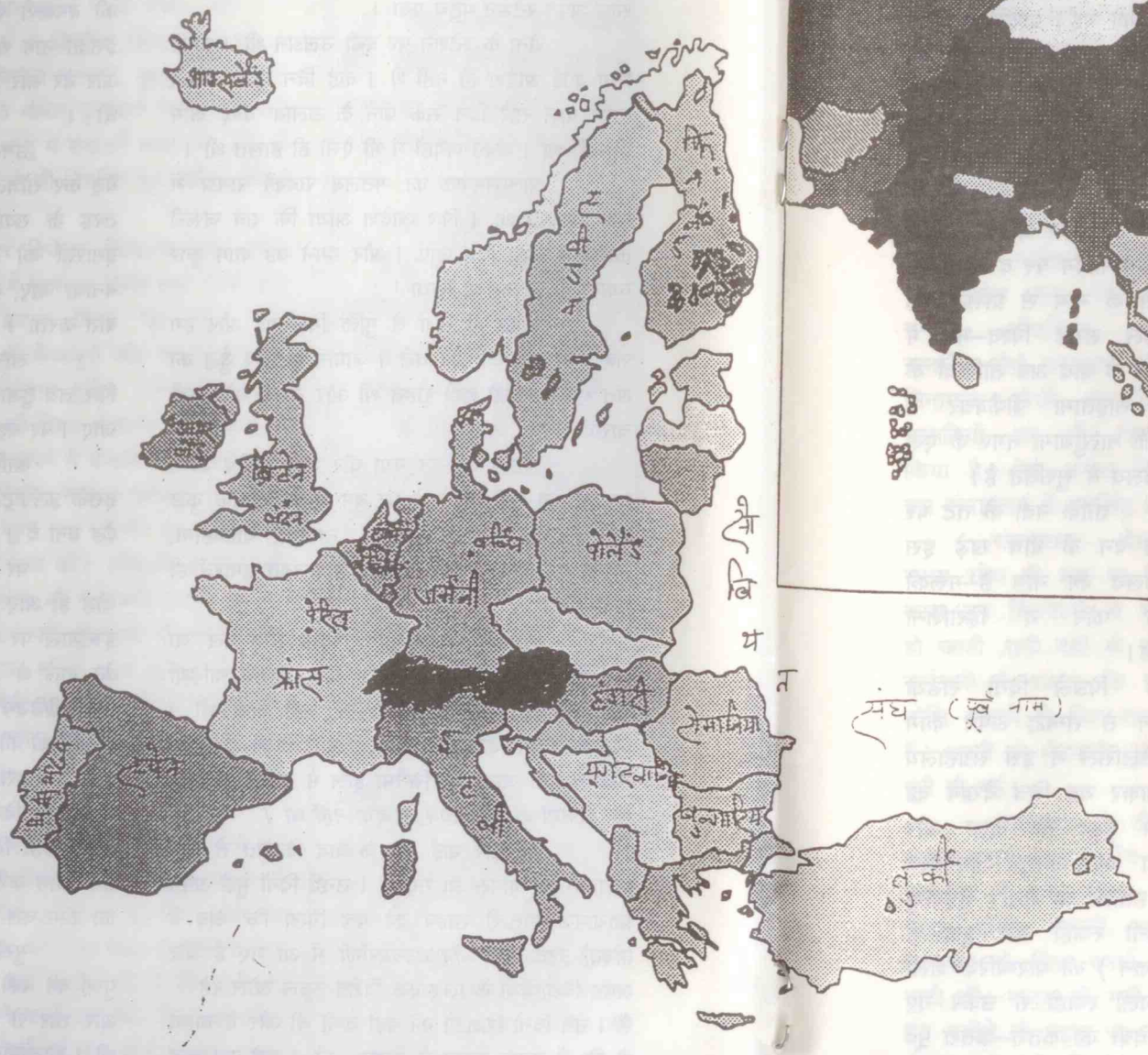

जुलाई, १९४३, अमरीकी सेना जनरल आइज़नहावर के नेतृत्व में सिसिली पहुँची । सितंबर, १९४३ में इटली पर

अक्तूबर, १९४४, फ़िलीपीन में जापानी सेना की हार ।

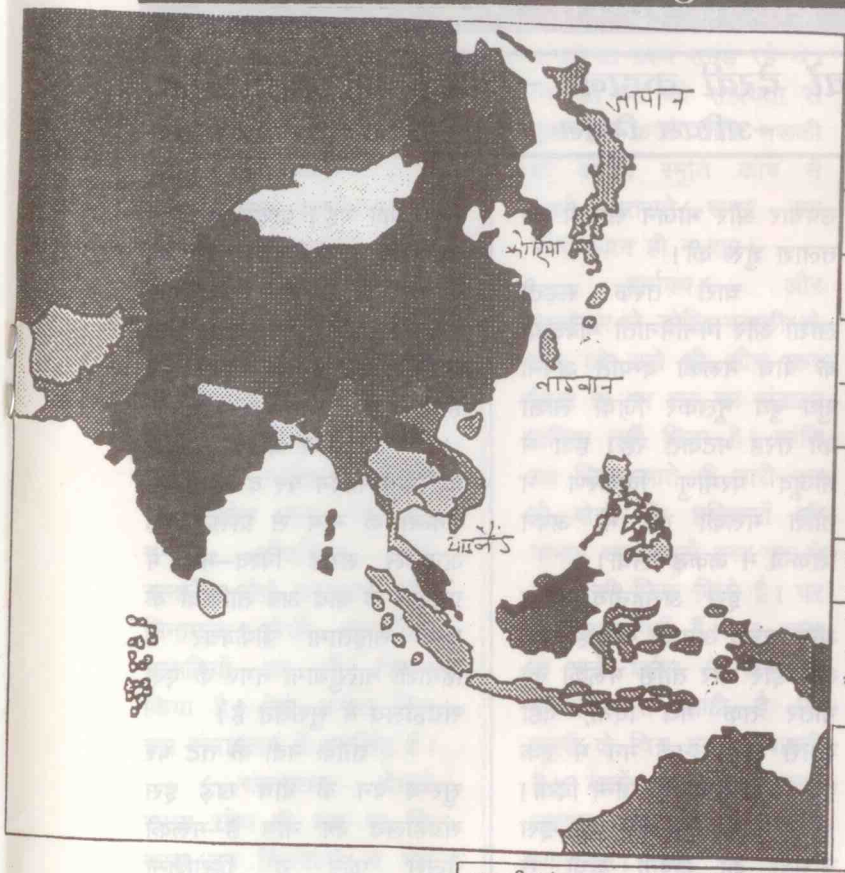

७ दिसंबर १९४१, पर्ल हार्बर पर जापान का हमला । अमरीका का युद्ध में प्रवेश ।

दिसंबर १९४१, जापानी सेना का हांगकांग और फ़िलीपीन पर वर्चस्व ।

जनवरी १९४२, बोर्नियो पर जापान का अधिकार।

मार्च, १९४२, जावा एवं रंगून पर जापान का अधिकार ।

जुलाई २४, १९४२, फ्रेंच हिंद-चीन पर जापान का अधिकार ।

दिसंबर-मई, १९४१-४२, बर्मा पर जापान का आक्रमण । ब्रिटेन की भारतीय सेना का युद्ध में प्रवेश ।

दिसंबर-फरवरी, १९४१-४२, मलाया और सिंगापुर पर जापान का आक्रमण ।

४-७ जून १९४२, हवाई के पास मिड-वे के युद्ध में जापानी नौसेना को भारी क्षति ।

१९३२-३७ जापान का चीन पर आक्रमण । दिसंबर १९३७ में नानकिंग पर जापान की जीत के साथ भीषण जनसंहार । लाखों लोग मारे गए ।

जनवरी-अप्रैल, १९४५, मित्रराष्ट्रों की सेना राइन नदी पार कर बर्लिन पहुँची ।

६-९ अगस्त, १९४५, हिरोशिमा और नागासाकी पर परमाणु बम गिराए गए ।

७ मई, १९४५, हिटलर की आत्महत्या । जर्मनी द्वारा बिना शर्त आत्मसमर्पण ।

१४ अगस्त, १९४५, जापान का आत्मसमर्पण।

तबाही की आँखों देखी कहानी – कूँची की ज़बानी

–अखिल मित्तल

परमाणु बम की आग में जलते हिरोशिमा पर कोई नई तरह का बम गिरने की खबर सारे जापान में फैलते ही लोग हिरोशिमा में बसे अपने सगे–संबंधियों की कुशलता जानने को आतुर हो उठे। भागते दौड़ते लोग हिरोशिमा पहुँचने लगे।

इनमें चित्रकार इरि मरूकी और उनकी पत्नी तोशि मरूकी भी शामिल थे। हिरोशिमा में ओता नदी के किनारे जन्मे इरि मरूकी ने बम गिरने के तीन दिन बाद वहाँ पहुँच कर जो कुछ देखा उसने उन्हें हिलाकर रख दिया।

हर तरफ आग, चीख–पुकार,हाहाकार,लाशों के अम्बार...विस्फोट केन्द्र से दो किलोमीटर दूर इरि का पारिवारिक मकान तो अपनी जगह पर खड़ा था।

छत के परखच्चे उड़ चुके थे। खिड़कियां गायब थीं। रसोई के बर्तन और दूसरा सामान भी तितर–बितर हो चुका था।

अनेक संबंधी दम तोड़ चुके थे। बहन जलते घावों की पीड़ा से तड़प रही थी। पिता की हालत खराब थी ,वे भी छः माह बाद परलोक सिधार गए।

आग से जर्जर ढाँचे को जैसे–तैसे सम्हाला। मृतकों को चिता दी। बम पीड़ितों को इकट्ठा कर इसी घर में शरण दी। उनके लिए यथासम्भव उपचार और भोजन सामग्री की तलाश शुरू की।

चारों तरफ सड़ती लाशों और भिनभिनाती मक्खियों के बीच मरूकी दम्पति अपनी सुध–बुध भूलकर ज़िंदा लाशों की तरह भटकते रहे। हवा में मौजूद परमाणु विकिरण ने तोशि मरूकी को भी अपने शिकंजे में जकड़ लिया।

इस असहनीय पीड़ा और त्रासद अनुभव ने जहाँ एक ओर इरि और तोशि मरूकी को भीतर तक मथ दिया, वहीं दूसरी ओर उनके मन में एक दृढ़ संकल्प को भी जन्म दिया।

यह संकल्प था–इस त्रासदी को अपनी कूँची से चित्रों में उतारने का । ताकि भावी पीढ़ियाँ इस त्रासदी को जान सकें–समझ सकें।

उनके इस संकल्प के पीछे शायद एक कारण विश्व की इस सबसे भयावह आपदा का सचित्र विवरण सुरक्षित रखना भी रहा होगा क्योंकि उस समय जापान जनरल मैकार्थर की सेना के नियँत्रण में था और उसने इस घटना से सम्बद्ध सभी चित्र ज़ब्त कर लिए थे ।

मरूकी दम्पति ने १९४८ के आसपास ६०० स्वैच्छिक मॉडलों की मदद से इस घटना के आँखों देखे चित्र कागज़ पर उतारने शुरू किए। कुल मिलाकर ६०० रेखांकनों को मिलाकर १५ चित्रावलियाँ तैयार की गईं। प्रारम्भिक चित्रों के लिए जहाँ तोरि नो को कागज़ का उपयोग किया गया है वहीं बाद के कुछ चित्र गासेन्शि कागज़ पर उकेरे गए हैं ।

विशाल आकार के १५ फोल्डिंग स्क्रीन पर द हिरोशिमा पैनल्स के नाम से प्रसिद्ध यह अनमोल संग्रह विश्व–भर में प्रदर्शन के बाद अब तोकियो के पास साइतामा प्रीफैक्चर में हिगाशी मात्सुयामा नगर के एक संग्रहालय में सुरक्षित है।

तोकि नदी के तट पर सुरम्य वन के बीच खड़े इस संग्रहालय का नाम है–मरूकी गैलरी फॉर द हिरोशिमा पैनल्स।

पिछले दिनों रेडियो जापान से सम्बद्ध अपने काम के सिलसिले में इस संग्रहालय में जाकर यह चित्र देखने का सुयोग हुआ तो कला और भावना का अदभुत सामँज्स्य देख हतप्रभ रह गया। सुईबोकु (चीनी स्याही और ब्रुश से चित्रांकन) की पारम्परिक शैली में काली स्याही से उकेरे गए इन चित्रों का कतरा–कतरा ५० वर्ष पहले की उस त्रासदी का जीता–जागता गवाह है ।

लाशों के अम्बार, आग में झुलसते,एक दूसरे पर गिरते–पड़ते ,पानी की बूँद–बूँद को तरसते चेहरे ,उनसे टपकती मुर्दनी ,माताओं की छाती से चिपके दुधमुँहे बच्चे और

उनकी कातर दृष्टि, देखकर इस कदर दहल गया कि बुक्का फाड़कर रोने को जी हुआ। इंसानी हाथों से बरसी मौत का ऐसा डरावना मंज़र देखकर अपने आपको इंसान कहते हुए शर्म आने लगी।

६४ वर्षीय इरि मरूकी और ८३ वर्षीय तोशि मरूकी पिछले ५० बरस से परमाणु शस्त्रों,परमाणु शक्ति, युद्ध और पर्यावरण विनाश का विरोध कर रहे हैं। उन्होंने ऑशवित्ज़ और नानकिन जैसे नरसंहारों और मिनामाता जैसी औद्योगिक त्रासदियों का भी चित्रण किया है। ऐसे अनेक चित्र इस संग्रहालय में प्रदर्शित हैं।

संग्रहालय देखते समय सोच ही रहा था कि काश इन चित्रकारों से भेंट हो जाती ,तभी वहाँ के एक कर्मचारी ने बताया कि हम तोशि मरूकी से मिल सकते हैं। अपनी तो मुँहमांगी मुराद पूरी हो गई।

संग्रहालय के ठीक सामने पुराने जापानी ढँग के एक घर में प्रवेश किया तो देखा तोशि मरूकी बड़ी तन्मयता से चित्र बनाने में जुटी थीं। गज़ब की गर्मी में हम पसीने से नहाए जा रहे थे , पर वे पंखे की मंद हवा में अपनी कला में मग्न थीं।

हमारी साथी मिवाको कोएज़ुका और योको साताके ने परिचय कराया, जापानी परम्परा के अनुसार नेम कार्ड का आदान प्रदान हुआ। मेरे मन में तो अनगिनत प्रश्न उमड़ रहे थे। मिवाको जी की सहायता से एक-एक करके तोशि मरूकी के अथाह स्मृति कोष में डूबते उतराते समय कब बीता ध्यान ही न रहा।

वार्धक्य और पेसमेकर ने तोशि मरूकी के तन को भले ही क्षीण कर दिया हो पर मन का संकल्प तनिक नहीं डिगा है। शांति का ज़िक्र आते ही भारी मन से बोलीं कि हथियारों की कमाई खाने वाले इस युग में शांति की फिक्र किसे है। पर वे निराश नहीं हैं। ८३ बरस के बूढ़े शरीर में अब भी इतनी आस बाकी है कि फूलों के चित्र बनाना चाहती हैं। बातों के बीच हमारे जलपान का भी उन्हें पूरा ध्यान था।

मैंने संग्रहालय से उनके चित्रों का संग्रह खरीदा था। झिझकते हुए अनुरोध किया कि उस पर अपने हस्ताक्षर कर दें तो तोशि मरूकी ने सहर्ष उसके प्रथम पृष्ठ पर एक कबूतर के बीच माँ और बच्चे की रेखाकृति खींच कर अपने हस्ताक्षर कर दिए। वास्तव में यह रेखाकृति उनकी हस्ताक्षर कृति है जो उनके नेम कार्ड पर भी अंकित है। उनका मानना है कि माँ और बच्चा ही भविष्य की आशा के प्रतीक हैं। कबूतर तो है ही शांति का पंछी।

जब उन्हें पता चला कि मैं भारतीय हूँ तो १९७८ में अपनी भारत यात्रा की स्मृतियों में खो गई। वाराणसी के घाट पर गंगा स्नान की याद अभी तक ताज़ा है। एक मास के भारत प्रवास के बारे में उन्होंने अनेक चित्र बनाए हैं।

इस महान कलाकार की कला और व्यक्तित्व पर तो मैं मोहित हो ही चुका था पर विदा के समय उनके शब्दों ने तो श्रद्धा से नत्मस्तक कर दिया। हाथ जोड़कर उन्होंने जापानी में जो कुछ कहा उसका भाव यही था कि , *आप भगवान बुद्ध के देश से आए हैं। उस पुण्यस्थली तक मेरा प्रणाम पहुँचा दीजिएगा।*

.जेन कथा

विश्वविद्यालय के एक सुप्रसिद्ध प्रोफेसर जेन-साधक नान-इन के पास आये और उन्होंने जेन-साधना के सम्बंध में जानने की इच्छा प्रकट की।

नान-इन ने पास पड़ी चाय की केतली उठायी और अतिथि के सम्मुख प्याला रख कर उसमें चाय उड़ेलनी आरम्भ की। प्याला लबालब भर गया। प्रोफेसर से रहा नहीं गया, वे बोल उठे, "इसमें अब और चाय नहीं समा सकेगी।"

नान-इन ने हाथ रोक लिया और बोले,"इसी तरह तुम पूर्व-ज्ञान और पूर्वाग्रहों से भरे हुए हो। जब तक तुम अपने प्याले को खाली ना कर दो, तुममें जेन नहीं समा सकेगा।"

-प्रो.सत्यभूषण वर्मा

द्वितीय विश्वयुद्ध और भारत की आज़ादी

कभी–कभी मैं सोचता हूँ कि यदि द्वितीय विश्वयुद्ध न हुआ होता तो भारत के स्वतत्रंता संघर्ष की क्या दिशा–गति होती ! युद्ध न होने की स्थिति में भारत को आज़ादी मिलने में कुछ और वक्त लगता या हम १५ अगस्त १९४७ से पहले ही आज़ाद हो जाते ?

१९३९ में विश्वयुद्ध की शुरूआत के बाद से विश्व के अधिकाधिक क्षेत्र प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में उसके प्रभाव में आते चले गए। ब्रिटिश उपनिवेश होने के कारण भारत को भी अनचाहे ही युद्ध में सहभागी बनना पड़ा। १९४१ के मध्य तक पश्चिमी यूरोप को पददलित करने के बाद जर्मनी ने रूस को अपना निशाना बनाया इसके फलस्वरूप अकेला पड़ जाने के खतरे से निपटने के लिए ब्रिटिश प्रधानमंत्री चर्चिल ने अमरीकी राष्ट्रपति रूज़वेल्ट से गुहार की।अमरीका ने इंग्लैंड को युद्ध–सामग्री सप्लाई करने का ठोस आश्वासन दिया। इस आश्वासन के बावजूद द्वितीय विश्वयुद्ध में अमरीका की भागीदारी परोक्ष तथा सीमित बनी रही।

७ दिसंबर १९४१ को हवाई द्वीप स्थित पर्ल हार्बर अमरीकी नौसैनिक अड्डे पर जापान के हवाई हमले के बाद अमरीका भी प्रत्यक्ष युद्ध में कूद पड़यंत्र। इंग्लैंड को इस घटना–क्रम से बहुत राहत मिली। भारत जैसे उपनिवेशों में उठने वालों विरोधों को दबाने के लिए उसे इस राहत की ज़रूरत भी थी। यदि जापान और अमरीका द्वितीय विश्वयुद्ध में न कूदते तो हो सकता था कि नाज़ी खतरे से बचने की चिंता और प्रक्रिया में इंग्लैंड को भारत से अपना बोरिया–बिस्तर मजबूरन जल्दी ही समेटना पड़ता। असल में द्वितीय विश्वयुद्ध में अमरीका की सीधी भागीदारी ने इंग्लैंड को अपने उपनिवेशों पर काबिज रहने का तात्कालिक अवसर दे दिया।

द्वितीय विश्वयुद्ध में भारत की भागीदारी को लेकर अधिकतर भारतीय नेताओं की मनःस्थिति और विचारधारा दुविधा से भरी रही। एक ओर नाज़ीवादी तथा फासिस्ट ताकतों का विरोध करने और दूसरी ओर ब्रिटिश साम्राज्यवाद का विरोध करने के भारत को स्वराज दिलाने के दोहरे आदर्शों के बीच फँसा भारतीय स्वतँत्रता आंदोलन निरंतर द्वन्द्वग्रस्त रहा। एक ओर भारतीय सेनाओं को युद्ध में झोंका जा रहा था तो दूसरी ओर अगस्त १९४२ में 'भारत छोड़ो' तथा 'करो या मरो' जैसे निर्णायक और आक्रामक नारों ने ब्रिटिश राज के लिए एक नया संकट पैदा कर दिया। इस आंदोलन की एक अन्य (निर्द्वन्द्व) दिशा की साहसिक परिणति सुभाषचन्द्र बोस की आज़ाद हिंद फौज की स्थापना तथा जापानी सेना के साथ पूर्वी भारत पर उसके असफल आक्रमण के रूप में देखी जा सकती है। यदि जापान सफल हुआ होता तो भारत के इतिहास में यह अभियान निर्णायक भी हो सकता था तथा (जापान की महत्वाकाँक्षाओं को देखते हुए) विवादास्पद भी।

द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान मित्र देश आज़ादी और प्रजातंत्र की पक्षधरता में अपने उद्‌गार व्यक्त करते रहते थे। भारत जैसे उपनिवेश के लिए इन उद्‌गारों का सीधा मतलब स्वराज हासिल करना था। लेकिन ब्रिटिश राज ने भारत को लगातार अपने शिकँजे में जकड़े रखने के लिए दमनपूर्ण तरीके और चालक प्रयास जारी रखे। अगस्त १९४२ से द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति तक अधिकतर महत्वपूर्ण नेताओं को जेल में बंद रखा गया। भारतीय जनमानस में अंग्रेज़ों के विरूद्ध गुस्सा बढ़ता चला गया। १९४३ में बंगाल के भीषण दुर्भिक्ष ने बदहाली के साथ–साथ गुस्से में भी अभूतपूर्व वृद्धि कर दी।

द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद भी यह गुस्सा कम नहीं हुआ। आज़ाद हिंद फौज के अफसरों पर मुकदमा चलाकर ब्रिटिश शासकों ने आग में और घी डाल दिया। बम्बई से आरम्भ नाविक विद्रोह नौसेना के अनेक अड्डों की शान्ति लीलता चला गया।

यह विद्रोह इतना उग्र था कि १९४६ के फरवरी महीने के अंत में जिन्ना और सरदार पटेल को नाविकों से विद्रोह समाप्त कर देने की अपील करनी पड़ी।

उधर द्वितीय विश्वयुद्ध के समाप्त होते–होते इंग्लैंड में चुनावों के फलस्वरूप लेबर पार्टी सत्ता में आ गई। भारत के प्रति इस पार्टी का रवैया अधिक यथार्थवादी था। अमरीका और चीन जैसे देशों के भारी दबाव और अपने ऊपर भारी ऋणभार के कारण इंग्लैंड के लिए भारत को अपने कब्ज़े में रख पाना सम्भव नहीं रह गया था। अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति और सत्ता–संतुलन में हो रहे परिवर्तनों के फलस्वरूप पूरी दुनिया में साम्राज्यवाद के दिन लदते जा रहे थे।

इस परिप्रेक्ष्य में,आंशिक रूप से द्वितीय विश्वयुद्ध के परिणामस्वरूप, इंग्लैंड अपनी खस्ता हालत और भारत की आंतरिक विस्फोटक स्थिति के कारण भारत पर आधिपत्य जमाए रखने में असमर्थ हो गया था।

वैसे अगर द्वितीय विश्वयुद्ध न हुआ होता तो भी भारतीय स्वतँत्रता संग्राम और जनमानस ऐसे सक्रिय दौर में पहुँच चुका था कि ब्रिटिश सत्ता का और अधिक समय तक भारत में टिक पाना संभव अहीं रह गया था। बेशक तब हमें अपनी आज़ादी की थोड़ी–सी कीमत और चुकानी पड़ती !

-प्रो. हस्तेन्द्र चौधरी

स्वाधीनता के स्वर

-रंजन

इतिहास गवाह है कि विश्व में हर जगह प्रत्येक क्रान्ति, स्वाधीनता के प्रत्येक आंदोलन में विचारकों, लेखकों,कवियों ने जन–जन को प्रेरित करने, राष्ट्रप्रेम की उद्दाम तरंगों से अनुप्राणित करने का दायित्व निभाया है।

भारत के स्वाधीनता संग्राम के दौरान तो कलम के सिपाही राष्ट्र की आत्मा को झकझोरने में प्राण–पण से जुटे रहे। खड़ी बोली के जनक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय से लेकर सुब्रमण्यम भारती तक अनगिनत रचनाकारों ने अपनी ओजस्वी लेखनी से भारतीय जनमानस को दासता की बेड़ियां तोड़ फेंकने के लिए वैचारिक ऊर्जा प्रदान की।

संवत् १९३८ में अफगान युद्ध की समाप्ति पर भारतेन्दु जी ने भारतीय हताशा अभिव्यक्त करते हुए लिखा था–

सुजस मिले अंग्रेज़ को, होय रूस को रोक।
बढ़ै बृटिश वाणिज्य पै हम कों केवल सोक।

बंकिमचन्द्र की चर्चित कृति आनंदमठ में शामिल यह मातृवन्दना तो आज भी भारत के राष्ट्रीय गीत के पद पर स्थापित है–

वंदे मातरम, वंदे मातरम
सुजलां, सुफलां मलयज शीतलां, शस्य श्यामलां मातरम्,
वंदेमातरम्।
शुभ्र ज्योत्सनां, पुलकित यामिनीं,
फुल्ल कुसुमित, द्रुमदलशोभिनीं।
सुहासिनीं, सुमधुर भाषिणीं,
सुखदां, वरदां, मातरम्, वंदे मातरम् ।

स्वाधीनता की बलिवेदी पर प्राणाहुति देने को तत्पर क्रान्तिकारियों का मूलमंत्र था–

सरफरोशि की तमन्ना अब हमारे दिल में है,
देखना है ज़ोर कितना बाजुए कातिल में है।

उधर पंजाब में किसान आंदोलनकारियों के दिलों की धड़कन था –

पगड़ी संभाल ओ जट्टा, पगड़ी संभाल ओए
ऐनां फिरंगिया लया मान ओए ।।
माझे दे जोर नाल, मालवे दे शोर नाल, कदी नईयों हारना ।
निरीयां गल्लां नाल कुछ नईं बणदा ।।
उट्ठो अलाज करो कोई वतन दा ।

हिन्दी साहित्य के अमर हस्ताक्षर माखनलाल चतुर्वेदी ने १८ फरवरी,१९२२ को बिलासपुर जेल में सींखचों के पीछे बैठकर पुष्प की अभिलाषा लिखी–

मुझे तोड़ लेना वनमाली
उस पथ पर देना तुम फेंक
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने
जिस पथ जावें वीर अनेक।

१९३१ में जयशंकर प्रसाद के नाटक *चन्द्रगुप्त* में तक्षशिला की राजकुमारी अलका के मुख से यह प्रयाण गीत मुखरित हुआ–

हिमाद्रि तुंग श्रृंग से
प्रबुद्ध शद्ध भारती
स्वयंप्रभा समुज्जवला
स्वतंत्रता पुकारती

अमर्त्य वीर पुत्र हो
दृढ़प्रतिज्ञ सोच लो
प्रशस्त पुण्य पंथ है
बढ़े चलो, बढ़े चलो

असंख्य कीर्त्ति रश्मियाँ
विकीर्ण दिव्य दाह सी
सपूत मातृभूमि के
रुको न शूर साहसी

अराति सैन्य-सिंधु में
सुवाड़वाग्नि से जलो
प्रवीर हो, जयी बनो
बढ़े चलो, बढ़े चलो

प्रकृति के सुकुमार कवि सुमित्रानन्दन पंत ने जनवरी १९४० में भारतमाता की विपन्न स्थिति का चित्रण इन शब्दों में किया–

चिन्तित भृकुटि क्षितिज
तिमिरांकित,
नमित नयन नभ
वाष्पाच्छादित,
आनन श्री छाया शशि
उपमित,
ज्ञान मूढ़
गीता प्रकाशिनी !

वैसे जन–जन को आंदोलित करने के लिए ऐसी पंक्तियां भी लिखीं गईं–

उठे जहाँ भी घोष शांति का,
भारत स्वर तेरा है,
धर्म-दीप जिसके भी कर में,
वह नर तेरा है,
तेरा है वह वीर, सत्य पर जो
लड़ने जाता है,
किसी न्याय के लिए प्राण
अर्पित करने जाता है ।

बंगला के विख्यात कवि अतुल प्रसाद सेन ने राष्ट्रप्रेम का वर्णन करते हुए लिखा–

वल वल वल सवे
शत वीणा वेनु रवे
भारत आवार जगत् सभाय
श्रेष्ठ आसन लवे ।।

उधर डा. अल्लामा इकबाल हिन्दुस्तान की यशकीर्ति का बखान करते हुए साम्प्रदायिक सद्भाव की अलख जगा रहे थे–

सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ
हमारा,हम बुलबुलें हैं इसकी
यह गुलिस्ताँ हमारा...
गुरबत में हों अगर हम,
रहता है दिल वतन में,
समझो वहीं हमें भी,
दिल हो जहाँ हमारा ...
पर्वत वो सबसे ऊंचा,
हमसाया आसमां का,
वो संतरी हमारा,
वो पासबां हमारा ...
मजहब नहीं सिखाता,
आपस में बैर रखना,
हिन्दी हैं हम, वतन है
हिन्दोस्तां हमारा ।

१५ अगस्त १९४७ को भारत की स्वाधीनता के उल्लास में श्री माखनलाल चतुर्वेदी ने उल्लासपूर्वक लिखा–

मुक्त गगन है,
मुक्त पवन है,
मुक्त सांस गरबीली,
लाँघ सात लाँबी सदियों
को हुई श्रँखला ढीली ...

मिले रक्त से रक्त,
मने अपना त्यौहार सलौना
भरा रहे अपनी बलि से माँ
की पूजा का दौना ...

तीस करोड़ धड़ों पर
गर्वित,उठे,तने, ये शिर हैं
तुम संकेत करो,
कि हाजिर हैं।

मातृभूमि पर मर मिटने वाले शहीदों के लिए तो बस यही दिलासा काफी है–

शहीदों की चिताओं पर लगेंगे
हर बरस मेले ।
वतन पे मरने वालों का यही
बाकी निशां होगा ।

स्वाधीनता का सिपाही

सन् १८५७ के स्वाधीनता संग्राम के बाद अंग्रेजों ने भारतवासियों पर जैसे जुल्म किए उससे लोग बहुत डर गए थे । सुधारकों एवं साहित्यकारों ने उसी डर को निकालने का काम किया । धीरे धीरे जनता में स्वतंत्रता की भावना तेज हो उठी । सिखों के नामधारी संप्रदाय के लोग इस काम में आगे थे । वे भक्ति के साथ-साथ आजादी का प्रचार करते थे । इन्हें कूका भी कहा जाता था । पंजाब में 'भैणी साहब' में इनकी गद्दी है ।

यह तब की बात है जब गुरू रामसिंह गद्दी पर थे । वे बहुत बड़े देशभक्त थे । केवल देश में बनी वस्तुओं का प्रयोग करते थे । उनकी डाक व्यवस्था तक अपनी थी । उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा, अदालत, डाक, रेल, तार सबका बहिष्कार कर दिया था ।

अंग्रेज सरकार ने उन पर कई पाबंदियाँ लगा दी जिससे यह आन्दोलन पनपने न पाए । दूसरी ओर उन्होंने मलेरकोटला रियासत के शासक को इनके विरुद्ध भड़काना शुरू किया । वह अंग्रेजों का पिट्ठू था । एक बार जब इनका एक दल माघी स्नान के लिए अमृतसर जा रहा था मलेरकोटला के लोगों ने इन्हें परेशान करना शुरू किया । जब बात बिगड़ उठी तो युद्ध शुरू हो गया । कूके वहां के शासक के महलों और किले तक चढ़ दौड़े ।

अंग्रेज यही तो चाहते थे । लुधियाने का डिप्टी कमिश्नर वहाँ पहुँच गया और उसने कूकों पर जोरदार आक्रमण किया । वे बड़ी वीरता से लड़े । बहुत सारे वीरगति को प्राप्त हुए । डिप्टी कमिश्नर ने ६८ व्यक्तियों को पकड़ लिया । उनमें से ५० को तो तुरत तोपों से उड़वा दिया। कुछ को फांसी दे दी । उनमें एक तेरह वर्ष का लड़का भी था । उसे देख कर डिप्टी कमिश्नर की पत्नी को दया आ गई । उसने पति से कहा, 'यह तो अभी बच्चा है । इसे गुमराह कर दिया गया है । इसे माफ कर दो ।'

डिप्टी कमिश्नर ने कहा, *अच्छा, अगर ये कह देगा कि यह उस शैतान के बच्चे रामसिंह का पैरोकार नहीं है तो हम उसे छोड़ देंगे* । अपने गुरू के प्रति अपशब्द सुन कर वह बालक तमतमा उठा । उसने जोर लगा कर अपने को छुड़ा लिया और डिप्टी कमिश्नर की दाढ़ी खींच कर बोला *तुम मेरे गुरू को गाली देने वाले कौन हो* ? डिप्टी कमिश्नर जब अपनी दाढ़ी नहीं छुड़ा पाया तो क्रोध से पागल हो कर उसने अपने सिपाहियों को हुक्म दिया, *इस शैतान के बच्चे के हाथ काट डालो* ।

एक सिपाही ने उसके हाथ काट डाले और फिर उसे तोप के मुँह से बांध कर उड़ा दिया गया । उसका बलिदान साहस और स्वाभिमान की मिसाल बन कर देश की स्मृति में सदा के लिए अंकित हो गया ।

बाल कविता

परीक्षा

भूगोल में गत वर्ष आया
गोल है कैसे धरा ?
और मैंने एक पल में
लिख दिया उत्तर खरा,
गोल है पूरी–कचौरी
पूआ–पापड़ गोल है,
गोल रसगुल्ला–जलेबी
गोल लड्डू गोल है
इसलिए हे मास्टर जी
ये धरा भी गोल है।
झूम उठे मास्टरजी इस
अनोखे ज्ञान से,
और उन्होंने एक पल में
लिख दिया ये शान से,
ठीक है बच्चा तुम्हारी
लेखनी भी गोल है,
गोल है दवात, नम्बर भी
तुम्हारा गोल है।

हिमाँशु सरन

लालाजी

लालाजी ने केला खाया
कमला खाकर मुँह
पिचकाया,
मुँह पिचका कर पेट
फुलाया,
पेट फुला कर कदम
बढ़ाया,
कदम के नीचे छिलका
आया,
लालाजी गिर पड़े
धड़ाम,
मुँह से निकला हाय
राम।

रति सरन

নিবেদন

দ্বিতীয় বিশ্বযুদ্ধ অবসানের পঞ্চাশ বছর পূর্ণ হোলো। এই পঞ্চাশ বছরে নানা ভাবে চেষ্টা চালানো হয়েছে যুদ্ধকালীন ইতিহাসের নিরপেক্ষ পর্যালোচনা করবার। পারিপার্শিক দেশগুলির প্রতি জাপানের নির্মম অত্যাচারে জাপানকে দোষী সাব্যস্ত করে সোচ্চার হয়েছে সারা বিশ্ব। জাপানের সরকারী পক্ষ খোলাখুলি ভাবে দোষ স্বীকারে আগ্রহী হলেও দোষ স্বীকারের প্রয়োজনীয়তা এবং মাত্রা নিয়ে মতান্তর আছে। একধারে যখন এইরকম চেষ্টা চলেছে অন্যদিকে তেমনি সারা বিশ্বে প্রতিনিয়তই শান্তি ভঙ্গের বীজ বপন করা হয়ে চলেছে। আশ্চর্যের বিষয়, উন্নয়নশীল দেশগুলীতে অস্ত্রশস্ত্র উৎপাদন এবং সংগ্রহের খাতে এখনও সিংহভাগ ব্যয় করা হয়। গাছের গোড়া কেটে আগায় জল দিয়ে যেমন কোনও লাভ নেই, তেমনি শুধু ব্যক্তিগত ক্ষতিপূরণ বা সর্বসমক্ষে দোষ স্বীকার করলেই যে দীর্ঘস্থায়ী শান্তি প্রতিষ্ঠা সম্ভব তা নয়। জাপান ভারতী সকলের শুভেচ্ছা নিয়ে পঞ্চম সংখ্যায় পদার্পণ করেছে। বর্তমান সংখ্যাটি দ্বিতীয় বিশ্বযুদ্ধ অবসানের পঞ্চাশ বছর পূর্তী উপলক্ষে বিশেষ ভাবে তৈরী। পত্রিকাটির মান উন্নয়নের জন্য আপনাদের সকলের সাহায্য একান্ত কাম্য। জাপান ভারতীর তরফ থেকে সকলের কাছে বিশেষ অনুরোধ জাপান ভারতীর ঠিকানায় আপনাদের লেখা পাঠান।

স্বদেশীগান ও আমি

স্বদেশী গান নিয়ে কিছু লিখতে গেলে যে পরিমাণ পরিশ্রম, পড়াশোনা আর সময়ের প্রয়োজন তা আমার নেই। নিজস্ব কোনো অভিজ্ঞতা থাকলে সুবিধা হোত সন্দেহ নেই কিন্তু দেশ স্বাধীন হবার সময়ে আমার যা বয়স ছিল তাতে এ সব বোঝার মতন মন তখনও তৈরী হয়নি। কাজেই মনে রাখার মতন তেমন কোনো স্মৃতিও নেই। সে সময় সম্বন্ধে যা জ্ঞান তা সবই পরে বড় হয়ে বই পড়ে বা লোকের মুখে শুনে। তবে গানটা ছোটবেলা থেকে বড়ই ভালবাসি। শুধু ভালবাসা নয় সেটা একটা নেশার মত ব্যাপার। তাই ভাসা ভাসা হলেও কিছুটা অন্তত জানা। স্বদেশী গানের মর্ম তখন আর কী বুঝি ?

আমাদের বাড়িতে স্বদেশী ভাবের একটা হাওয়া আমরা ছোটবেলা থেকেই পেয়ে এসেছি। নিজের অজান্তেই তা মনের মধ্যে গভীর ছাপ ফেলেছিল। কোলকাতায় আমাদের পাশের বাড়িতে থাকতেন অগ্নিযুগের অগ্নিকন্যা কমলা দাশগুপ্ত - আমাদের কমলাপিসি। এঁর নাম অনেকেই হয়তো জানেননা কারণ নেপথ্যে কাজটাই তাঁর বেশী ছিল। যুগান্তর দলের সক্রিয় সদস্যা ছিলেন। বীনা দাসকে ইনিই সেই রিভলবার যোগান দিয়েছিলেন যা দিয়ে বীণা দাস গভর্নর স্যার স্ট্যানলী জ্যাকসন কে গুলি করেন। একটা সময় ওঁর বাড়িতে মেয়েদের গান শেখাতেন তখনকার দিনের বিখ্যাত গায়িকা বিজনবালা ঘোষ দস্তিদার। মনে আছে যে বড়দের পিছনে পিছনে আমরা ছোটরাও গিয়ে জুটতাম গান শেখার নেশায়। অনেক গান শিখেছিলাম, সব গানের কথা আজ আর মনে পড়েনা কিন্তু দুটি বিশেষ গান আজও মনের মধ্যে গাঁথা আছে। তার একটি হোল

বুড়িবালামের তীরে
বুকের শোণিতে সেদিন তোমরা
রাঙালে ধরিত্রীরে ।।

আর অন্যটি সেই বিখ্যাত

মুক্তির মন্দির সোপানতলে
কত প্রাণ হোল বলিদান
লেখা আছে অশ্রুজলে ।।

স্পষ্ট মানে বোঝার বয়স হয়নি তখনও, তবুও এক অজানা ব্যথায় বুকটা কেমন করে উঠতো। দেখতাম বড়দের চোখে জল।আজ এতদিন পরেও সেই অনুভূতি একই রকম আছে।

আমাদের ছোটবেলাটা কেটেছে স্বদেশী গানের উন্মাদনার মধ্যে। সে সব গানের ভাষা ও সুর বাঙালীকে আপ্লুত করেছিল, আত্মবিশ্বাস দিয়েছিল, আর জাগিয়েছিল দেশাত্মবোধ। *বন্দেমাতরম্* তো হয়ে উঠেছিল বীজমন্ত্র। অনেকেই জানেন এর সুর রবীন্দ্রনাথের করা। কিন্তু হয়তো সকলে জানেননা যে উনি শুধু প্রথম অংশেই সুর দিয়েছিলেন। বাকী অংশের সুর রবীন্দ্রনাথের অনুরোধে সরলাদেবীর করা। স্বদেশী গানে ঠাকুর পরিবারের দান অপরিসীম। সত্যেন্দ্রনাথ, দ্বিজেন্দ্রনাথ, জ্যোতিরিন্দ্রনাথ, স্বর্ণকুমারী দেবী, সরলা দেবী - সকলেই স্বদেশী গান লিখেছিলেন। আর রবীন্দ্রনাথ তো ছিলেননই। বিশেষ করে বঙ্গভঙ্গের সময় থেকেই তিনি প্রচুর স্বদেশী গান লেখেন - *আমার সোনার বাংলা, বাংলার মাটী বাংলার জল, ছি ছি চোখের জলে, যে তোমায় ছাড়ে ছাড়ুক, ওদের বাঁধন যত শক্ত হবে, বিধির বাঁধন কাটবে তুমি*, ইত্যাদি।

দ্বিজেন্দ্রলাল রায়ের *যেদিন সুনীল জলধী হইতে, বঙ্গ আমার জননী আমার, ধন - ধান্য - পুষ্প ভরা, একবার গালভরা মা ডাকে*, অতুলপ্রসাদ সেনের *মোদের গরব মোদের আশা, উঠো গো ভারত লক্ষী, বল বল বল সবে, হও ধরমেতে ধীর, খাঁচার গান গাইব না আর*, কাজী নজরুলের *কারার ওই লৌহ কপাট, দুর্গম গিরি কান্তার মরু, জাগো অনশন বন্দী*, রজনীকান্ত সেনের *মায়ের দেওয়া মোটা কাপড়, আমরা নেহাত গরীব*, জ্যোতিরীন্দ্রনাথ ঠাকুরের *চল রে চল সবে ভারত সন্তান*, ইত্যাদি গান বাঙালী কে উদ্দীপ্ত করেছে, প্রভাবিত করেছে।

এই সব গানের সঙ্গে সঙ্গে আরও অনেক জনপ্রিয় গান ছিল। *একবার বিদায় দে মা ঘুরে আসি* লোকের মুখে মুখে ফিরেছে। মুকুন্দ দাসের *বান এসেছে মরা গাঙে* গানটিও খুব জনপ্রিয় ছিল।

এরকম আরও কত গানই না ছিল। স্বাধীনতার পর আত্মসর্বস্ব আজকের বাঙালীকে এসব গান আর বোধহয় ভাবায় না, কাঁদায় না। তবু আমাকে আজকেও এরা অবেলায় সঙ্গ দেয়, ক্ষনিকের জন্য হলেও সেই ছোটবেলায় ফিরিয়ে দেয়।

- মন্জুলিকা হানারি, চিওদা-কু, তোকিও

স্বাধীনতা

স্বাধীন ভারত, স্বাধীন আমি, স্বাধীন ভারতবাসী
চোর গুন্ডা সবাই স্বাধীন, নয়কো শ্রমিক চাষী।
বলায় স্বাধীন, ধর্মে স্বাধীন, ভেজাল দিতেও স্বাধীন
নতুন ভালো গড়তে গেলেই নিয়মের পরাধীন।

মালিক স্বাধীন দাম বাড়াতে, ইচ্ছে মতন লোক ছাঁটাতে
চাম্‌চেবাজী সবচেয়ে গুণের নেতা পটু ভুল বোঝাতে।
মধ্যবিত্ত কাছা খুলে গরীব দেশে না খেয়ে মরে
বড়লোকে যাচ্ছে ফুলে, আছে দেশের ঝান্ডা ধরে।

দোষ নেইকো যখন তখন অফিস যাওয়াতে
লজ্জা নেইকো কারুর কাছে ঘুষ চাওয়াতে।
ট্রাফিক রুল ভাঙাই রেওয়াজ, বোকায় নিয়ম মানে
ট্যাক্স ফাঁকিতেই বাহবা, কারণ ধনেই মান আনে।

যখন তখন ভাড়া বাড়াও, যখন খুশী ট্রেন-বাস চালাও
যখন পারো ট্যাক্স বাড়াও, যেমনটি চাও আইন বানাও।
যখনই চাও ধর্মঘট, মিছিল রাস্তা জুড়ে
রাস্তা জুড়ে দোকান বানাও, লোকেই হাঁটুক সরে।

সরকারী মাল! ধ্বংস করো, কেউ দেবেনা বাধা
সৎ ভাবে বাঁচবো বলো, বল্‌বে লোকে গাধা।
পূজোয় চাঁদা যা খুশী চাও, নইলে মারো ধরে
পণ না দিতে পারার দরুণ বউরা মরে পুড়ে।

যাকে খুশী জেলে ঢোকাও, যখন খুশী গুলী চালাও
নিরীহের জমি দখল করে, পয়সা খেয়ে বস্তি জ্বালাও।
ভাবছো এসব করলে আমার স্বাধীন দেশে হবে সাজা
অর্থ দিলে সবেই স্বাধীন, এই তো স্বাধীন দেশের মজা।

- জয়ন্ত দত্ত, ইচিকাওয়া শী, চিবা

পারমাণবিক বোমা ও জাপান

ইংরেজী সন্ ১৯৪৫ সালের ৬-ই আগস্ট পৃথিবীর ইতিহাসে প্রথম পারমাণবিক বোমা পড়ে জাপানের হিরোশিমা শহরের উপর। তার কিছুদিন পরেই নাগাসাকি শহরেও পারমাণবিক বোমা ফেলা হয়। ফলস্বরুপ ১৫-ই আগস্ট জাপানী সৈন্যরা যৌথশক্তির কাছে শর্তহীন ভাবে নতি স্বীকার করে।

গত ২৮-শে জুন আমেরিকার স্মিথসোনিয়ান সংস্থার *এনোলা গে* নামক বি-২৯ বিমানের প্রদর্শনী নিয়ে অনেক মতবিরোধের সৃষ্টি হয়েছিল। ঐ বিমানটি হিরোশিমা শহরে ৩-মিটার লম্বা, ০.৭-মিটার ব্যসযুক্ত চার টনের পারমাণবিক বোমা ফেলে। ওই প্রদর্শনীতে হিরোশিমা এবং নাগাসাকি শহরের ভয়াবহ বিধ্বংসতা নিয়ে কিছু না দেখানোর জন্য আমেরিকা এবং জাপানের লোকজনদের মধ্যে মতবিরোধ দেখা যায়। আমেরিকার অনেকে মনে করেন যে পার্ল হারবার-এ জাপানের হঠাৎ আক্রমণের প্রত্যুত্তরে পারমাণবিক বোমা ফেলা হয়। অনেকের অভিমতে পারমাণবিক বোমা না ফেললে দ্বিতীয় বিশ্বযুদ্ধ শেষ হত না। এ ব্যাপারে আমেরিকার তৎকালীন প্রেসিডেন্ট হ্যারী ট্রুম্যানের পরিকল্পনাকে *দি ওয়াশিংটন পোস্ট* ঠিক এবং যুক্তিসঙ্গত বলে মনে করেন।

অন্যদিকে দ্বিতীয় বিশ্বযুদ্ধ বা তার আগে জাপানের চীন, মাঞ্চুরিয়া, তাইওয়ান, কোরিয়া সহ এশিয়ার বিভিন্ন জায়গা আক্রমণ অনেক জাপানী শ্বেতাঙ্গদের কবল থেকে এশিয়াকে রক্ষা করার কারণ হিসাবে দেখেন। কিন্তু তখন ঐ সব দেশে তাদের নিজস্ব ভাষার ব্যবহার নিষিদ্ধ করা, সেখানকার জনগণের উপর জাপ মিলিটারীর অত্যাচার, ইত্যাদি আজ সর্বজনবিদিত। এই সব ঘটনা পর্যবেক্ষণ করে বোঝা যায় যে সবাই নিজেদের যুদ্ধকালীন ক্রিয়াকলাপের যুক্তি খুঁজে বেড়াচ্ছেন। তাই মনে হয় একবিংশ শতাব্দীর প্রাক্কালে এসেও কি আমরা একে অপরের সর্বাঙ্গীন স্বাধীনতা বজায় রেখে বেঁচে থাকতে পারব না ?

- সুবীর সাহা, ইয়োকোহামা

নেতাজী ও জাপান

আমরা যারা উত্তর-স্বাধীনতা যুগের মানুষ তারা নেতাজীর কতখানি সঠিক মূল্যায়ন করতে পেরেছি এ নিয়ে যথেষ্ট সন্দেহ আছে। আমাদের মধ্যে কেউ কেউ নেতাজীকে *ফ্যাসিস্ট*, জাপানের *পুতুল* ইত্যাদি আখ্যা দিয়েছেন। নেতাজী ও জাপানের মধ্যে সম্পর্ক কেমন ছিল এ নিয়েও দ্বিমত আছে। এই লেখায় আমি নেতাজী ও জাপানের সম্পর্ক নিয়ে কিছু তথ্য উত্থাপন করছি যার থেকে এটা পরিষ্কার হবে যে বিশ্বের প্রথম সারির এই বিপ্লবী কখনও নিজের এবং নিজের দেশের মাথা কারুর সামনে নত হতে দেননি, জাপানের সামনেও নয়।

নেতাজী জাপানে প্রথম আসেন ১৯৪৩ সালের মে মাসে। তৎকালীন জাপ সামরিক অধিনায়কদের মধ্যে একাংশ (যার মধ্যে প্রধানমন্ত্রী জেনারেল হিদেকি তোজো-ও ছিলেন) নেতাজীর দূরপূর্বের যুদ্ধভূমিতে আগমনের প্রতি আগ্রহ দেখাননি। তার প্রধানত দুটি কারণ ছিল। প্রথমতঃ, ভারতের মুক্তিসংগ্রামে জাপানের আগ্রহ তখন পর্যন্ত রাসবিহারী বসুর মধ্যেই সীমাবদ্ধ ছিল (স্মরণ করা যেতে পারে, বিপ্লবী রাসবিহারী ততদিন জাপানকে কেন্দ্র করে আজাদ হিন্দ ফৌজের গঠন ও পরিচালনা করে এসেছিলেন)। আরও একজন পলাতক বিপ্লবীর জাপানে আগমন তাঁদের কাছে অপ্রয়জনীয় মনে হয়েছিল। দ্বিতীয়তঃ, জাপ মিলিটারী তখন সমস্ত বিদেশীকেই সন্দেহের চোখে দেখত। মাঝে মাঝেই জাপানে নিবাসী ভারতীয়দের ঘরবাড়ীর খানাতল্লাসী নেওয়া হত।

সুভাষের সঙ্গে দেখা করতে জেনারেল তোজো প্রথমে অনিচ্ছা প্রকাশ করলেও কর্ণেল য়ামামোতোর (যিনি বার্লিনের জাপ দূতাবাসে পরামর্শদাতা ছিলেন) হস্তক্ষেপে এই সাক্ষাৎকার সম্ভব হয় ১১-ই মে, ১৯৪৩ সালে। এই সাক্ষাৎকারে সুভাষ সর্বপ্রথম তাঁর সশস্ত্র বিপ্লবের খসড়া জাপ সমরনায়কদের সামনে রাখেন। এই সময়েই জাপানের NHK রেডিও থেকে দক্ষিণ-পূর্ব এশিয়ার উদ্দেশ্যে তিনি তাঁর বিখ্যাত কয়েকটি ভাষণ দেন।

সুভাষ দ্বিতীয়বার জাপান আসেন ১৯৪৩ সালের অক্টোবর মাসে, জাপান সরকারের আমন্ত্রণে। সেই সময় তোকিওর হিবিয়া পার্কে বৃহত্তর পূর্ব এশিয়া অধিবেশন (Greater East Asia Conference) আয়োজিত হয়েছিল। ততদিনে সিঙ্গাপুরে আজাদ হিন্দ সরকার গঠনের কাজ শেষ হয়ে গেছে। সুভাষ রাসবিহারীর হাত থেকে আজাদ হিন্দ ফৌজের সাংগঠনিক দায়িত্বভারও গ্রহন করেছেন (এ প্রসঙ্গে উল্লেখ করা যেতে পারে, জাপান সরকারই আজাদ হিন্দ সরকারকে সর্বপ্রথম স্বীকৃতি দেন)। একটি দেশের প্রধানের প্রাপ্য সম্মান সুভাষকে দিয়েছিলেন জেনারেল তোজো। জানা যায় যে ৩১-শে অক্টোবর নেতাজীর বিমান হানেদাতে অবতরন করলে তাঁকে অভিবাদন করেন বিদেশমন্ত্রী শ্রী সিগিমিৎসু সহ আরও অনেকে। সুভাষ অন্যান্য রাষ্ট্রনায়কদের সঙ্গে একই মঞ্চে এবং সমান মর্যাদায় ভাষণ দেন। জাপান সরকার অধিকৃত আন্দামান ও নিকোবর দ্বীপ দুটি এই সম্মেলনে আজাদ হিন্দ সরকারের হাতে তুলে দেন।

১৯৪৪ সালে জাপান সরকার পরিবর্তন হওয়া সত্বেও আজাদ হিন্দ সরকার ও সুভাষের প্রতি জাপানের মনোভাবের কোন পরিবর্তন হয়নি। সুভাষ যখন নভেম্বর মাসে জাপানে আসেন তখন নতুন প্রধানমন্ত্রী জেনারেল কুনিয়াচি কোইসো তাঁর সম্মানার্থে এক সান্ধ্য ভোজের আয়োজন করেন এবং সেখানে আজাদ হিন্দ সরকারের প্রতি জাপানের নীতি অপরিবর্তিত থাকার প্রতিশ্রুতি দেন। সেই সময় সুভাষ জাপ সরকারকে রাষ্ট্রদূত পদমর্যাদা দিয়ে একজন প্রতিনিধি কে সিঙ্গাপুর পাঠাতে অনুরোধ করেন। (কথিত আছে যে মিঃ হাচাইয়াকে যখন জাপানের রাষ্ট্রদূত নিযুক্ত করে সুভাষের কাছে পাঠানো হয়েছিল, সুভাষ তাঁর সঙ্গে প্রথমে দেখাই করেননি কেননা তিনি তাঁর সরকারী পরিচয়পত্র ফেলে এসেছিলেন! এর থেকেই আমরা সুভাষের চারিত্রিক দৃঢ়তার পরিচয় পাই।)

অপরদিকে সুভাষ জাপানের সাহায্যপ্রার্থী হলেও কখোনও কোন ব্যাপারে আপোষ করেননি। একটি দৃষ্টান্ত থেকে এটি বোঝা যায়। আজাদ হিন্দ ফৌজ ও জাপানী সৈন্য যখন ভারত আক্রমন করতে প্রস্তুত হচ্ছে, তখন সুভাষ জাপান সরকারের সাথে একটি চুক্তি করেছিলেন, যাতে শর্ত ছিল যে কোন জাপানী সৈন্য যেন ভারতের মাটীতে প্রবেশ না করে। শুধু তাই নয়, আজাদ হিন্দ ফৌজ শুধু ভারতীয় সেনাধ্যক্ষেরই নির্দেশ মেনে চলবে, কোনো জাপানী সেনাধ্যক্ষের নয় - একথাও সুস্পষ্ট ভাবে বলা ছিল।

নেতাজীর সঙ্গে যাঁরা কাজ করেছেন, অথবা তাঁকে কাছ থেকে দেখেছেন, তাঁরা জানেন যে জাপান চিরকালই নেতাজীকে শ্রদ্ধা ও সম্মান করেছে। তাঁর অনমনীয়তা, স্পষ্টবাদিতা, দৃঢ়চেতনা ইত্যাদি চারিত্রিক গুণ গুলিকে জাপান সর্বদাই সমীহ করেছে। কাজেই, নেতাজী জাপানের পুতুল ছিলেন কিনা, অথবা তাঁকে মদত দেওয়ার পিছনে জাপানের অন্য কোন উদ্দেশ্য ছিল কিনা, এ প্রশ্ন অবান্তর।

দ্বিতীয় বিশ্বযুদ্ধে জাপানের ভূমিকা এবং পার্শদেশগুলীতে জাপানী সৈন্যের আচরণ সন্দেহাতীত ভাবে নিন্দনীয়। কিন্তু একথাও বোধহয় ভুললে চলবেনা যে সত্যিকারের একজন বীরের অস্হিকে তার প্রাপ্য মর্যাদা কিন্তু জাপানই দিয়েছে।

- বিবেক দাস, তোকিও

शान्ति - मुक्ति